भारत में सामाजिक परिवर्तन

कक्षा 12 के लिए समाजशास्त्र की पाठ्यपुस्तक

(चतुर्थ सेमेस्टर)

महेंद्र नारायण कर्ण

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

प्रथम संस्करण

जून 2003

आषाढ़ 1925

PD 30T MK

ISBN: 81-7450-206-8

एन.सी.ई.आर.टी. के प्रकाशन विभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैंपस	108, 100 फीट रोड, होस्डेकेरे	नवजीवन ट्रस्ट भवन	सी.डब्ल्यू.सी. कैंपस
श्री अरविंद मार्ग	हेली एक्सटेंशन बनाशंकरी III इस्टेज	डाकघर नवजीवन	निकट : धनकल बस स्टॉप
नई दिल्ली 110016	बैंगलूर 560085	अहमदाबाद 380014	पनिहटी, कोलकाता 700114

प्रकाशन सहयोग

संपादन मीरा कांत

उत्पादन अतुल सक्सेना

आवरण अमित श्रीवास्तव

रु 20.00

एन.सी.ई.आर.टी. वाटरमार्क 70 जी.एस.एम. पेपर पर मुद्रित।

प्रकाशन विभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली 110 016 द्वारा प्रकाशित तथा सरस्वती ऑफसेट प्रिंटर्स, ए-5, नारायणा इंडस्ट्रियल एरिया, फ़ेज-II, नई दिल्ली 110 028 द्वारा मुद्रित।

आमुख

प्रस्तुत पाठ्यपुस्तक *भारत में सामाजिक परिवर्तन* बारहवीं कक्षा हेतु तैयार की गई है। पाठ्यपुस्तक को चौथे सेमेस्टर के लिए, समाजशास्त्र के नए पाद्यक्रम और *विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा-2000* के आधार पर तैयार किया गया है। यद्यपि माध्यमिक स्तर पर सामान्य शिक्षण के रूप में समाजशास्त्र के महत्त्वपूर्ण घटकों को सामाजिक विज्ञान के पाठ्यक्रम में शामिल किया गया है, तथापि एक स्वतंत्र ऐच्छिक विषय के रूप में इसका अध्ययन ग्यारहवीं कक्षा में पहली बार प्रारंभ होता है।

इस स्तर पर दो वर्षों का पाठ्यक्रम चार सेमेस्टरों में विभाजित है। प्रत्येक सेमेस्टर के लिए पृथक पाठ्यपुस्तक तैयार की गई है। इस प्रकार दो पाठ्यपुस्तकें ग्यारहवीं कक्षा के लिए तथा दो बारहवीं कक्षा के लिए प्रस्तावित हैं। जिन विद्यालयों में सेमेस्टर प्रणाली लागू नहीं है वहां प्रथम दो सेमेस्टर की पाठ्यपुस्तकें ग्यारहवीं कक्षा एवं अंतिम दो सेमेस्टर की पाठ्यपुस्तकें बारहवीं कक्षा में पढ़ाई जाएगीं। प्रस्तुत पाठ्यपुस्तक *भारत में सामाजिक परिवर्तन* इन चार पाठ्यपुस्तकों की श्रृंखला में चौथी और अंतिम पुस्तक है। विद्यार्थियों के आयु-समूह तथा समाजशास्त्र में हाल ही में हुए विकास को ध्यान में रखते हुए पुस्तक में दी गई विषय-वस्तु को बहुत ही सरल एवं व्यापक रूप में प्रस्तुत किया गया है।

समाजशास्त्र परिचय एवं *समाज का बोध* – इन दोनों पाठ्यपुस्तकों में ग्यारहवीं कक्षा का पाठ्यक्रम समाहित किया गया है। इन पुस्तकों में समाजशास्त्र एक विषय के रूप में, समाजशास्त्र की मौलिक अवधारणाएं, शोध पद्धतियां, समाज की संरचना एवं समाजशास्त्र के मुख्य विचारकों के बारे में अध्ययन एवं विश्लेषण किया गया है। *भारतीय समाज की संरचना* नामक पाठ्यपुस्तक तीसरे सेमेस्टर के लिए निर्धारित की गई है। इसमें हमने इन बिंदुओं पर प्रकाश डाला है - एकता में अनेकता : भारतीय समाज की एक विशेषता के रूप में, जाति की सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक भिन्नताएं, वर्ग एवं जनजातियां, विभिन्न भारतीय संस्थाओं की जानकारी, वंचित समूहों एवं भारतीय समाज के अध्ययन के विभिन्न उपागम इत्यादि।

प्रस्तुत पाठ्यपुस्तक *भारत में सामाजिक परिवर्तन* मुख्यत: भारत में विभिन्न क्षेत्रों में हो रहे सामाजिक परिवर्तनों से संबद्ध है। यह पाठ्यपुस्तक भारत में संरचनात्मक एवं सांस्कृतिक परिवर्तनों पर तो प्रकाश डालती ही है, साथ ही इन विषयों पर भी विचार प्रस्तुत करती है कि आर्थिक विकास, संविधान, कानून, शिक्षा एवं संचार के साधन हमारे देश में किस प्रकार सामाजिक परिवर्तन लाने में सहायक सिद्ध हो रहे हैं। इसके अलावा यह पाठ्यपुस्तक विभिन्न सामाजिक आंदोलनों एवं सामाजिक विचलन के विभिन्न प्रकारों पर भी प्रकाश डालती है। सभी विषयों को विस्तृत रूप से समझाने का प्रयास किया गया है ताकि विद्यार्थी भारत में हाल ही में हुए परिवर्तनों से भली-भांति परिचित हो सकें।

मैं विद्वान लेखक, विभिन्न विश्वविद्यालयों एवं विद्यालयों के विषय विशेषज्ञों, अध्यापिकाओं और अध्यापकों का आभारी हूं जिन्होंने पाठ्यपुस्तक की पांडुलिपि के विकास एवं समीक्षा की प्रक्रिया में और उसे अंतिम रूप देने में अपना अमूल्य योगदान दिया।

पुस्तक में परिवर्तन, संशोधन और परिमार्जन के लिए आपकी टिप्पणियों एवं सुझावों का स्वागत है ताकि इस पुस्तक का आगामी संस्करण हम अधिक सार्थक एवं उपयोगी बना सकें।

जगमोहन सिंह राजपूत
निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

अप्रैल 2003
नई दिल्ली

पाठ्यपुस्तक समीक्षा कार्यगोष्ठी के सदस्य

महेंद्र नारायण कर्ण
प्रोफ़ेसर, समाजशास्त्र
एन.ई.एच.यू., शिलौंग, मेघालय

एस. के. भट्टाचार्य
प्रोफ़ेसर, समाजशास्त्र
कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता

बी.के. नागला
प्रोफ़ेसर, समाजशास्त्र
महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय
रोहतक, हरियाणा

रीता रे
प्रोफ़ेसर, समाजशास्त्र
उत्कल विश्वविद्यालय
भुवनेश्वर, उड़ीसा

जीतेंद्र प्रसाद
प्रवाचक, समाजशास्त्र
महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय
रोहतक, हरियाणा

नवनीता रथ
प्रवक्ता, समाजशास्त्र
बी. जे. बी. महाविद्यालय
भुवनेश्नर, उड़ीसा

संजुक्ता दास
प्रवक्ता, समाजशास्त्र
नवापाड़ा महाविद्यालय
नवापाड़ा, उड़ीसा

माधवेंद्र प्रसाद पांडेय (अनुवादक)
प्रवक्ता, हिंदी
एन.ई.एच.यू., शिलौंग, मेघालय

प्रियंबदा दाश
प्रवक्ता, समाजशास्त्र
नयागढ़ महाविद्यालय, नयागढ़, उड़ीसा

सुदर्शन गुप्ता
प्रवक्ता, समाजशास्त्र
रा. क. उ. मा. विद्यालय, रिहारी, जम्मू

मधु शरन
पी.जी.टी., समाजशास्त्र
कारमल कॉन्वेंट, मालचा मार्ग
नई दिल्ली

सीमा बनर्जी
पी.जी.टी., समाजशास्त्र
लक्ष्मण पब्लिक स्कूल
हौज़ खास, नई दिल्ली

रेनु भाटिया
पी.जी.टी., समाजशास्त्र
सेंट पॉल स्कूल
सफ़दर जंग डेवलपमेंट एरिया, नई दिल्ली

एन.सी.ई.आर.टी. संकाय

सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग

सारिका चंद्रवंशी
प्रवक्ता

मंजु भट्ट (समन्वयक)
प्रवाचक

भारत का संविधान

भाग 4क

नागरिकों के मूल कर्तव्य

अनुच्छेद 51 क

मूल कर्तव्य – भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह –

(क) संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे,

(ख) स्वतंत्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोए रखे और उनका पालन करे;

(ग) भारत की संप्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण बनाए रखे;

(घ) देश की रक्षा करे और आह्वान किए जाने पर राष्ट्र की सेवा करे.

(ङ) भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभावों से परे हो, ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो महिलाओं के सम्मान के विरुद्ध हों;

(च) हमारी सामासिक संस्कृति की गौरवशाली परंपरा का महत्त्व समझे और उसका परिरक्षण करे;

(छ) प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अन्तर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव है, रक्षा करे और उसका संवर्धन करे तथा प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव रखे;

(ज) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे;

(झ) सार्वजनिक संपत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे; और

(ञ) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत प्रयास करे, जिससे राष्ट्र निरन्तर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नई ऊंचाइयों को छू सके।

विषय-सूची

गांधी जी का जंतर

तुम्हें एक जंतर देता हूँ। जब भी तुम्हें संदेह हो या तुम्हारा अहम् तुम पर हावी होने लगे, तो यह कसौटी आज़माओ :

जो सबसे गरीब और कमज़ोर आदमी तुमने देखा हो, उसकी शक्ल याद करो और अपने दिल से पूछो कि जो कदम उठाने का तुम विचार कर रहे हो, वह उस आदमी के लिए कितना उपयोगी होगा। क्या उससे उसे कुछ लाभ पहुँचेगा? क्या उससे वह अपने ही जीवन और भाग्य पर कुछ काबू रख सकेगा? यानी क्या उससे उन करोड़ों लोगों को स्वराज्य मिल सकेगा, जिनके पेट भूखे हैं और आत्मा अतृप्त है?

तब तुम देखोगे कि तुम्हारा संदेह मिट रहा है और अहम् समाप्त होता जा रहा है।

मो. क. गांधी

अध्याय 1

संरचनात्मक परिवर्तन की प्रक्रियाएं

परिवर्तन मानव जीवन का सत्य है। हम इसे अपने प्रतिदिन के जीवन में भले ही महसूस न करें, पर यह हमारे जीवन को विभिन्न तरीकों से प्रभावित करता रहता है। प्रस्तर अथवा पहाड़ों के निर्माण के लिए भले ही सैकड़ों, हज़ारों वर्ष का समय कम लगे, लेकिन सामाजिक परिवर्तन के लिए एक या दो पीढ़ियां ही पर्याप्त होती हैं। उन परिस्थितियों की कल्पना कीजिए जिसमें आपकी दादी गांव में रहती थीं, जहां पूरा परिवार एक साथ, एक छत के नीचे रहता था। उन्हें परदे में रहना पड़ता था और वह तब तक परदे की चहारदीवारी से मुक्त नहीं हो पाईं जब तक बूढ़ी नहीं हो गईं। अब इन परिस्थितियों को अपनी माँ के संदर्भ में देखिए। क्या आप अपने परिवार की संरचना में परिवर्तन महसूस नहीं करते जहां परिवार के कुछ ही सदस्य एक साथ रहते हैं? आपके चाचा दूसरे घर में अपनी पत्नी एवं बच्चों के साथ रहते हैं। इसी तरह से आपके दादा खेती का काम करते थे जबकि आपके पिता नौकरी के लिए शहर में आ गए। आपने अपने परिवार की जीवन शैली में भी उसी तरह का परिवर्तन महसूस किया होगा। ये बदलाव मुश्किल से एक या दो पीढ़ियों की अवधि में आए। इन परिस्थितियों को ध्यान से देखने पर परिवार की संरचना, प्रकार्य एवं व्यवसाय के तरीकों में परिवर्तन साफ़ तौर पर महसूस किया जा सकता है।

परिवर्तन के इन्हीं पक्षों का अध्ययन हमें यहां करना है। हमारा ध्यान मुख्यतः वर्तमान भारतीय समाज में होने वाले सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति एवं उसके विस्तार पर होगा। भारत में होने वाले सामाजिक परिवर्तनों का अध्ययन कई कारणों से महत्त्वपूर्ण है। यह हमें बताता है कि आज का भारतीय समाज कैसे पारंपरिक समाज से आधुनिक रूप से विकसित समाज में परिवर्तित हो रहा है। यह दर्शाता है कि हमारी सामाजिक संस्थाओं में किस प्रकार के परिवर्तन आते जा रहे हैं तथा इन परिवर्तनों के कारण क्या हैं। इससे राष्ट्र के रूप में हमारी उपलब्धियों का भी पता चलता है तथा साथ ही जीवन के विविध क्षेत्रों में आने वाली समस्याओं एवं गतिरोधों की जानकारी भी मिलती है।

सामाजिक परिवर्तन एक प्रक्रिया है। इसमें एक निश्चित समयावधि में घटनाओं की एक शृंखला होती है। इसमें निरंतरता की भावना विद्यमान होती है और यह कार्य-व्यापार के उस क्रम को व्यक्त करती है जो सामाजिक परिवर्तन के कारक होते हैं। इस तरह से, यह प्रक्रिया सामाजिक परिवर्तन के दो प्रमुख पक्षों की ओर संकेत करती है – इसका स्वरूप और इसकी दिशा। परिवर्तन का स्वरूप जहां इसके मूल तत्त्वों को बताता है, वहीं दिशा यह बताती है कि परिवर्तन किस तरफ़ हो रहा है। यहां हम परिवर्तन के दोनों पक्षों पर विचार करने के साथ ही उन पहलुओं पर भी दृष्टि डालेंगे जो इन परिवर्तनों के मूल कारक हैं।

भारत में समाजशास्त्रियों ने सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को दो वृहद् श्रेणियों में रख कर विश्लेषित किया है – संरचनात्मक प्रक्रियाएं और सांस्कृतिक प्रक्रियाएं। परिवर्तन की संरचनात्मक प्रक्रियाएं सामाजिक संबंधों के संजाल में होने वाला परिवर्तन है। जाति, नातेदारी, परिवार और व्यावसायिक समूह संरचनात्मकता के कुछ विशिष्ट पक्ष हैं। इनके पूर्व निश्चित संबंधों में होने वाले परिवर्तन संरचनात्मक परिवर्तन हैं। जब एक पारंपरिक कृषि व्यवस्था, जो पारिवारिक श्रम पर आश्रित थी, व्यावसायिक उत्पादन के लिए किराए के मजदूरों का इस्तेमाल करती है, तब हम इसे संरचनात्मक परिवर्तन कह सकते हैं। संयुक्त परिवार का एकाकी परिवार में परिवर्तन परिवार की संरचना एवं प्रकार्य में परिवर्तन लाता है। भूमिकाओं में परिवर्तन की प्रक्रिया के माध्यम से यह संरचनात्मक परिवर्तन होता है। दूसरे शब्दों में, घटनाओं के विशिष्ट क्रम के कारण सामाजिक संस्थाओं की भूमिका में परिवर्तन होता है जो इन परिवर्तित परिस्थितियों में अधिक प्रभावशाली होता है। वास्तव में भूमिकाओं का संरचनात्मक परिवर्तन प्रकार्यात्मक विशेषीकरण में परिणत हो जाता है। हमारे पिछले उदाहरण के माध्यम से अगर कहें तो संयुक्त परिवार पारंपरिक समाज में शिक्षा, व्यवसाय, सामाजिक सुरक्षा के अलावा बच्चों के जन्म एवं लालन-पालन में अपनी विविध भूमिकाओं का निर्वाह करता है। परंतु इसके एकाकी परिवार के रूप में परिवर्तन के बाद से तमाम कार्य विशेष संगठनों जैसे – स्कूल, आर्थिक संगठन, सरकारी विभागों और दूसरे माध्यमों द्वारा किए जाने लगे हैं। भूमिकाओं की भिन्नताओं के परिणामस्वरूप संरचनात्मक परिवर्तन सामाजिक जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों में महसूस किए जा रहे हैं।

आप सभी सामाजिक परिवर्तन के विविध पहलुओं एवं कारकों से पहले से ही परिचित हैं। इसलिए हम यहां सामाजिक परिवर्तन की संरचनात्मक प्रक्रिया के संदर्भ में औद्योगीकरण, पश्चिमीकरण और आधुनिकीकरण के बारे में बात करेंगे।

औद्योगीकरण

विज्ञान मानव-विरासत का एक महत्वपूर्ण तत्त्व है, जो प्रकृति का व्यवस्थित ज्ञान प्रदान करता है। दूसरी ओर प्रौद्योगिकी वह तत्त्व है जो इस ज्ञान के उपयोग को अंतर्विष्ट करता है। इस अर्थ में, प्रौद्योगिकी का एक व्यावहारिक लक्ष्य होता है। इसका विकास सामान्य मानव को लाभ पहुंचाने की इच्छा से ही हुआ है। यह लक्ष्य लगभग सभी क्षेत्रों जैसे – उद्योग, कृषि, यातायात, संचार इत्यादि में महसूस किया गया है। हम अपने दैनिक जीवन में जो द्रुत परिवर्तन महसूस करते हैं, वे नई तकनीकी, नए आविष्कार एवं उत्पादन के नए तरीकों से संबंधित हैं। इस तरह से उद्योगों में आधुनिक प्रौद्योगिकी के प्रयोग ने हमारे आर्थिक जीवन को ही प्रभावित नहीं किया है, बल्कि हमारी सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था को भी प्रभावित किया है, जिस पर अब हम विचार करेंगे।

औद्योगीकरण प्रौद्योगिक उन्नति की वह प्रक्रिया है जो सामान्य उपकरणों से चलने वाले घरेलू उत्पादन से लेकर वृहद् स्तरीय कारखानों के उत्पादन तक संपन्न होती है, परंतु समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह शब्द उद्योगों के संरचनात्मक बदलाव के फलस्वरूप होने वाले आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को व्यक्त करता है। औद्योगीकरण में उन तमाम सामाजिक कारकों की वृहद् श्रृंखला समाहित हैं जो सामाजिक जीवन के चरित्र को गहराई से प्रभावित करते हैं। उदाहरण के तौर पर, कारखानों के माध्यम से किया गया विस्तृत श्रम विभाजन तथा नई कार्य-संस्कृति इत्यादि।

भारत में औद्योगीकरण

अंग्रेजी शासन के पहले से भी भारत में घरेलू और कुटीर उद्योगों का व्यापक जाल विद्यमान था। परंतु आधुनिक बड़े उद्योग उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में यूरोप की औद्योगिक क्रांति के पश्चात ही स्थापित हुए। सन 1850 में, जब पहले पहल प्रमुख उद्योगों की स्थापना हुई, से लेकर 1914 के बीच भारत में विश्व के सबसे बड़े जूट उद्योग की स्थापना हुई, विश्व में पांचवे सबसे बड़े सूती वस्त्र उद्योग की स्थापना हुई तथा विश्व का तीसरा सबसे बड़ा रेलवे-तंत्र स्थापित हुआ। इस तरह से, आज़ादी मिलने तक भारत में औद्योगिक विकास की लगभग एक शताब्दी पूरी हो चुकी थी।

आज़ादी के बाद औद्योगीकरण की गति में उल्लेखनीय वृद्धि पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान हुई। कई नए उद्योगों की स्थापना के साथ इसमें विस्तार एवं औद्योगिक संरचना में विविधताएं दिखाई दीं। सन 1951 में केवल दो प्रमुख इकाइयां थीं जो लोहे और इस्पात का उत्पादन करती थीं। इस तरह के प्रमुख इस्पात कारखानों की संख्या सन 1980 तक छ: हो गई तथा इनकी क्षमता 80 लाख टन तक हो गई। देश में नए उद्योगों के क्षेत्र में ट्रैक्टर, इलैक्ट्रॉनिक यंत्रों तथा उर्वरक इत्यादि में महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई जो 1951 तक अस्तित्व में नहीं थी। अब वस्त्र उद्योग सिर्फ सूती एवं जूट के कपड़ों तक सीमित नहीं रहा बल्कि ऐसी विशाल इकाइयों की स्थापना हुई जो विभिन्न प्रकार के सिंथेटिक वस्त्रों का उत्पादन करती हैं। आज़ादी के पश्चात उद्योगों के विकास का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में तीव्र गति से विस्तार हुआ है। ये औद्योगिक संस्थान अनेक प्रकार के उत्पादन करते हैं, जैसे - इस्पात, कोयला, भारी एवं हल्के इंजीनियरिंग यंत्र, रेल इंजन, हवाई जहाज़, पेट्रोलियम उत्पाद एवं उर्वरक। भारत के औद्योगिक विकास के बारे में ऊपर दिए गए संक्षिप्त विवरणों से देश में स्वतंत्रता प्राप्ति के समय से होने वाले औद्योगीकरण के विस्तार का पता चलता है।

औद्योगीकरण के सामाजिक परिणाम

अब हम औद्योगीकरण के आर्थिक एवं सामाजिक परिणामों के बारे में बात करेंगे। औद्योगीकरण के चलते हमारी आर्थिक परिस्थितियों में अत्यधिक संरचनात्मक परिवर्तन हुए हैं। इसने हमारे घरेलू उत्पादन को पूरी तरह से बदल ही नहीं दिया, बल्कि कई क्षेत्रों को तो पूरी तरह से समाप्त ही कर दिया। कारखानों में बड़े पैमाने पर उत्पादन होने लगे। श्रम-विभाजन से कार्य की विशेषज्ञता और औद्योगिक श्रमिकों के एक नए वर्ग का विकास इस औद्योगिक ढांचे में परिवर्तन के परिणामस्वरूप हुआ। इसी तरह से कृषि-कार्य के तरीकों में अंतर आने से कृषि उत्पादन की प्रकृति में भी परिवर्तन आए। कृषि-कार्य के तरीकों में परिवर्तन आने के कारण कृषि-कार्य करने वालों के आपसी संबंधों एवं उनकी जीवन शैली में भी परिवर्तन हुआ।

इसके अतिरिक्त, औद्योगीकरण ने घरेलू उत्पादन के तरीकों में भी परिवर्तन किया। महिलाएं खेतों, कारखानों एवं व्यावसायिक संस्थानों में विभिन्न प्रकार के कार्य करने लगीं। महिलाओं की नई आर्थिक भूमिका ने उन्हें नया वातावरण दिया, जहां उन्होंने अपनी परिवर्तित सामाजिक स्थिति को महसूस किया। महिलाओं की इस नई भूमिका ने उन्हें परिवार के अंदर निर्णय लेने का नया अवसर प्रदान किया। ये परिवर्तन औद्योगीकरण के चलते होने वाली व्यावसायिक विविधता के कारण हुए हैं। उदाहरण के तौर पर, यह ज़रूरी नहीं है कि परिवार में काम करने वाले सभी सदस्यों को किसी एक ही व्यवसाय अथवा पेशे में एक ही स्थान पर कार्य मिल जाए। हो सकता है कि परिवार का एक सदस्य उत्तर प्रदेश में पारिवारिक भूमि पर

खेती का काम करता हो और दूसरा चेन्नई में इंजीनियर हो। इन तमाम परिस्थितियों में एक संयुक्त परिवार का कई एकाकी परिवारों में बिखराव स्वाभाविक है। इस तरह के संरचनात्मक परिवर्तनों के साथ कुछ प्रकार्यात्मक विशिष्टताएं भी होती हैं। उदाहरण के लिए, जैसा पहले बताया गया है, पारंपरिक संयुक्त परिवार एक बहुप्रकार्यात्मक संस्था थी। यह सभी तरह के आर्थिक, शैक्षिक, मनोरंजन व समाजीकरण संबंधी तथा जैविक कार्यों को संपादित करती थी, जबकि आज परिवार के जैविकीय तथा समाजीकरण के कार्यों के अलावा दूसरे सभी कार्य औपचारिक आर्थिक संगठनों, संस्थाओं एवं राज्यों के द्‌वारा किए जा रहे हैं।

यातायात एवं संचार के विकास के अधिक दूरगामी परिणाम देखने को मिल रहे हैं। रेल, सड़क और समुद्री यातायात के साधनों ने न केवल एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा को बढ़ाया है, बल्कि आंतरिक एवं बाह्य प्रवसन में भी वृद्‌धि की है। व्यवसाय के नए अवसरों की तलाश में बड़ी संख्या में लोग गांवों से शहरों की ओर प्रवास कर रहे हैं। इसी तरह से, बड़ी संख्या में कुशल तथा अकुशल स्त्री–पुरुष, अच्छी जीविका के लिए दूसरे देशों की यात्रा भी कर रहे हैं।

सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था में भी परिवर्तन देखा जा रहा है। जाति–व्यवस्था, जो भारतीय सामाजिक व्यवस्था की महत्त्वपूर्ण वास्तविक संरचनात्मक स्थिति है, में यह परिवर्तन विशेष रूप से देखा जा रहा है। किसी हद तक जातियों ने अपने व्यवसाय को छोड़ा है तथा पारंपरिक दायित्वों से अपने को मुक्त किया है। यह संरचनात्मक रूपांतरण से ही संबंधित है। इस प्रकार से जाति एवं व्यवसाय में अलगाव को एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के रूप में देखा जा रहा है। व्यावसायिक विविधता ने तमाम व्यवसायों को जाति के बंधन से मुक्त कर दिया है। परंतु यह गांवों की अपेक्षा शहरों में अधिक हुआ है और बड़े औद्‌योगिक शहरों में तो यह और भी अधिक हुआ है। बड़ी संख्या में लोग, जो जाति व्यवस्था के निचले स्तर से संबंधित थे और पहले जातिगत व्यवसाय करते थे, अब नए व्यवसायों में प्रवेश कर रहे हैं। इस तरह से, ऊंची समझी जाने वाली जातियां उन व्यवसायों के लिए आगे आ रही हैं जो पहले अच्छे नहीं समझे जाते थे। पहले छोटी जाति के लोगों को उनके पारंपरिक व्यवसाय के साथ अलग कर दिया जाता था, क्योंकि वे अपवित्र और आर्थिक तथा सामाजिक रूप से निम्न प्रस्थिति वाले समझे जाते थे। दूसरी तरफ, उत्तर भारत में ऊंची जाति के लोग जैसे ब्राह्मण, राजपूत और कायस्थ शारीरिक श्रम, कार्यालय में चपरासी अथवा इसी तरह के छोटे कार्यों को करने के लिए विवश थे। व्यावसायिक संरचना एवं गतिशीलता में परिवर्तन के साथ-साथ अंतर्जातीय शक्ति संरचना में भी परिवर्तन हो रहा है।

अब तक हमने औद्‌योगीकरण के सामाजिक-आर्थिक परिणामों का विश्लेषण किया है, लेकिन इस संदर्भ में हमें एक मूलभूत तथ्य की अनदेखी नहीं करनी चाहिए। औद्‌योगिक परिवर्तन के प्रति किसी समाज की प्रतिक्रिया कैसी होती है यह उसकी रचनात्मक क्षमता एवं सामाजिक परिवेश पर निर्भर करता है इसलिए, औद्‌योगीकरण के परिणामस्वरूप एक समाज में होने वाला परिवर्तन दूसरे समाज में होने वाले परिवर्तनों से काफी मात्रा में भिन्न होता है।

नगरीकरण

नगरीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें लोग गांवों में रहने के बजाय कस्बों एवं शहरों में रहना शुरू कर देते हैं। वे ऐसे तरीकों का प्रयोग करते हैं कि कृषि आधारित निवास क्षेत्र गैर–कृषकीय शहरी निवास क्षेत्र में परिवर्तित हो जाता है। शहरी केंद्रों का विकास बढ़ी

हुई औद्योगिक तथा व्यावसायिक गतिविधियों का परिणाम है। कस्बों तथा नगरों के आकारों में वृद्धि के परिणामस्वरूप नगरीय जनसंख्या में वृद्धि नगरीकरण का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष है। इन केंद्रों की सबसे बड़ी विशेषता है कि ये गैर-कृषकीय होते हैं।

संरचनात्मक परिवर्तन की प्रक्रिया के रूप में नगरीकरण निश्चित रूप से औद्योगीकरण से संबद्ध है, लेकिन यह हमेशा औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप ही नहीं होता। कुछ स्थानों पर औद्योगीकरण के बिना भी नगरीकरण हुआ है। औद्योगीकरण आर्थिक विकास से निश्चित रूप से संबद्ध होता है, परंतु नगरीकरण के बारे में ठीक यही नहीं कहा जा सकता। नगरीय परिवेश एक विशिष्ट तरह के सामाजिक जीवन का निर्माण करता है, जिसे शिकागो स्कूल के एक प्रमुख सदस्य लुई वर्थ, 'नगरीयता' कहते हैं। शहरों में सामाजिक जीवन अधिक औपचारिक एवं अवैयक्तिक होता है। आपसी संबंध जटिल श्रम-विभाजन पर आधारित होते हैं तथा इसकी प्रकृति अनुबंधात्मक होती है।

भारत में नगरीकरण

भारत गांवों का देश है और आगामी कई दशकों तक ऐसा ही रहेगा। परंतु इसका आशय यह नहीं है कि इस विशाल उपमहाद्वीप में नगरों का अस्तित्व ही नहीं था। भारत में नगरों का अस्तित्व ईसा पूर्व 3 हज़ार वर्षों तक खोजा जा सकता है। पुरातात्त्विक खुदाई से प्राचीन नगरीकरण के संकेत मिले हैं। इतिहासकार बताते हैं कि सच्चे अर्थों में नगरीय सभ्यता का विकास सिंधु घाटी में महत्त्वपूर्ण नगरीय केंद्रों के रूप में मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा के विकास से हुआ था। इन दो नगरों के अलावा कई और नगरीय बस्तियों जैसे – उत्तरी राजस्थान में कालीबंगन, गुजरात में लोथल तथा हरियाणा में बनवाली का अभ्युदय प्रमुख नगरीय केंद्रों के रूप में हुआ था। परवर्ती समय में नगरीकरण एक निश्चित क्षेत्र तक सीमित नहीं रहा। इस चरण में नगरीकरण का उल्लेख उत्तरी भारत के उत्तर वैदिक साहित्य में तथा दक्षिण के संगम-साहित्य में मिलता है। बौद्ध रचनाओं में भी नगरीय केंद्रों का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त मध्यकाल के दौरान नगरीकरण उत्तर में श्रीनगर से लेकर दक्षिण में मदुरई तक फैला था। यह समय नए नगरों एवं कस्बों की स्थापना से अधिक पुराने नगरों के पुनरुद्धार के लिए जाना जाता है। परंतु ये पूर्व-औद्योगिक नगर मुख्यत: तीर्थ स्थान के रूप में, राज्य की राजधानी के रूप में अथवा व्यापारिक केंद्र के रूप में जाने जाते थे।

भारत में आधुनिक उद्योग बहुल नगरों का विकास पश्चिम से संपर्क के बाद ही हुआ। नगरीकरण की प्रक्रिया अंग्रेज़ी उपनिवेशवादी शासन के दौरान तेज़ी से बढ़ी। भारत में अंग्रेज़ी प्रशासन ने वृहद स्तर पर नगरीकरण को प्रोत्साहित किया। प्रमुख बंदरगाहों जैसे – कलकत्ता, बंबई और मद्रास (अब कोलकाता, मुंबई और चेन्नई) का अभ्युदय एवं विकास अंग्रेज़ी शासन के प्रयासों के कारण ही हुआ। इस तरह से क्षेत्रीय ग्रीष्मकालीन राजधानी की स्थापना सुदूर पर्वतीय स्थलों पर, जैसे – शिलौंग, श्रीनगर तथा शिमला जैसे स्थानों पर हुई। हालांकि रियासतों का विकास तीव्र गति से नहीं हो सका परंतु उनकी राजधानियां थीं। कुछ रियासतों जैसे – हैदराबाद, इंदौर, जयपुर तथा मैसूर की जनसंख्या एक लाख से ऊपर थी। आज़ादी के पश्चात नगरीय परिदृश्य में बहुत परिवर्तन आए। 1951 से 1991 के बीच नगरीय जनसंख्या में साढ़े तीन गुणा वृद्धि हुई। कुल जनसंख्या के अनुपात में नगरीय आबादी 1951 के 17.6 प्रतिशत से बढ़कर 1991 में 25.7 प्रतिशत हो गई। उन नगरों की संख्या जिनकी जनसंख्या दस लाख या उससे अधिक थी इसी समय के दौरान 5 से बढ़कर 23 हो गई। सन 2001 की जनगणना के अनुसार नगरों की जनसंख्या 27.78 प्रतिशत थी तथा दस लाख से अधिक की

जनसंख्या वाले नगरों की संख्या बढ़कर 35 हो गई। आज़ादी के पश्चात नगरीय जनसंख्या के बढ़ने का सबसे बड़ा कारण जनसंख्या में होने वाली तीव्र बढ़ोतरी, गांव से नगर की ओर प्रवसन तथा नगर-केंद्रित औद्योगीकरण के साथ-साथ गांवों की पूरी तरह उपेक्षा थी।

भारत में नगरीकरण की बढ़ती प्रवृत्ति के पीछे नगरों की ओर प्रवसन की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। बड़ी संख्या में लोग गांवों को छोड़ कर सिर्फ बड़े नगरों में ही नहीं, बल्कि मध्यम तथा छोटे नगरों में भी आ रहे हैं। अब दूरी कोई बाधा नहीं रही। आज कोई भी किसी सुदूर उत्तर भारत के ग्रामीण को दक्षिण भारत के नगरों में घूमता हुआ पा सकता है। यह प्रवसन मुख्यत: उत्पादन एवं नौकरी से संबंधित हैं। इसके अतिरिक्त, अकुशल मज़दूरों में मौसमी प्रवसन की प्रवृत्ति भी आम बात हो गई है। हम आंध्र प्रदेश, बिहार, उड़ीसा से आने वाले मज़दूरों को पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में खेतों में काम करते देख सकते हैं। मज़दूर मौसमी प्रवसन करते हैं और बाद में अपनी पसंद के क्षेत्रों में स्थायी रूप से बस जाते हैं।

नगरीकरण के सामाजिक परिणाम

अब हमें तेज़ी से हो रहे नगरीकरण के सामाजिक परिणामों के बारे में विचार करना है। नगरीकरण ने व्यावसायिक विविधता के परिणामस्वरूप संयुक्त परिवार के ढांचे में परिवर्तन कर दिया है। इसके परिणामस्वरूप परिवार तथा नातेदारी के प्रकार्यों में बहुत गिरावट आई है। पारंपरिक पारिवारिक नियमों में ढील आई है तथा अंतर्वैयक्तिक संबंध अधिक औपचारिक होते जा रहे हैं। एक नगरीय बच्चा अब अपेक्षाकृत छोटी दुनिया में पल रहा है। एकाकी परिवार में उसकी देखभाल के लिए कोई भी रिश्तेदार मौजूद नहीं है। बच्चों को परिवार से बाहर खेलने के लिए अपने मित्रों का चयन करना पड़ता है। इस तरह से बच्चा स्वतंत्रता एवं नवीन विचारों से युक्त एक विशेष प्रकार के व्यक्तित्व का विकास करता है। इस तरह की परिस्थिति संयुक्त परिवार के एक-दूसरे पर निर्भरता के वातावरण से पूरी तरह अलग होती है। अंतर्वैयक्तिक संबंधों के प्रेम एवं आत्मीयता की प्रकृति में भी परिवर्तन हो रहा है। बच्चों और माताओं पर जहां अधिक ध्यान दिया जाता है वहीं दूसरे संबंधियों के प्रति संवेदना एवं आत्मीयता में कमी आ जाती है। इसी तरह नगरीय समाज में पति एवं पत्नी के घरेलू दायित्वों में भी परिवर्तन आ रहे हैं। चूंकि घर के दायित्वों का बोझ उठाने के लिए दूसरा कोई वयस्क सदस्य मौजूद नहीं रहता, पति-पत्नी परिवार के दायित्वों को समान रूप से उठाते हैं।

इस प्रकार से नातेदारी के कर्तव्यों में कमी आने के कारण शहरी क्षेत्र में सामाजिक जीवन एकाकी होता जा रहा है। कई ऐसे बंधन जो उनको एक वर्ग या समुदाय में बांधे रहते थे, आज टूट गए हैं। परिणामस्वरूप मनुष्यों के आपसी संबंध अधिक औपचारिक एवं अवैयक्तिक होते जा रहे हैं।

दूसरा प्रत्यक्ष परिवर्तन जाति की पहचान के क्षेत्र में है। शहर का निवासी ऐसे संजाल में सहभागी होता है जिसमें कई जाति के लोग शामिल होते हैं। आज वैयक्तिक उपलब्धि एवं आधुनिक प्रस्थिति के प्रतीक जाति की पहचान से अधिक महत्त्वपूर्ण हो गए हैं। खान-पान, विवाह तथा व्यावसायिक संबंधों में जहां जाति संबंधी नियमों का सुस्पष्ट प्रभाव है, वहीं इन नियमों का पालन अधिक कड़ाई से नहीं किया जा रहा है। अत: यह कहा जा सकता है कि शहरी जीवन शैली ने लोगों को जाति के आधार पर अपने बारे में सोचने की अपेक्षा व्यक्ति के रूप में सोचने के लिए प्रेरित किया है। सामाजिक प्रस्थिति के निर्धारण में प्रदत्त तत्त्वों का महत्त्व क्रमश: कम होता जा रहा है

तथा अर्जित उपलब्धियों का महत्त्व तेज़ी से बढ़ता जा रहा है। आज शहरी जीवन में शिक्षा का स्तर, व्यवसाय की प्रकृति तथा आय का स्तर किसी भी उपलब्धि के महत्त्वपूर्ण सूचक हैं। इसलिए लोग उच्च सामाजिक प्रस्थिति के लिए शिक्षा, व्यवसाय तथा आय को प्राथमिक तौर पर स्वीकार कर रहे हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि अर्जित प्रस्थिति ने प्रदत्त प्रस्थिति को तथा वर्ग ने जाति को पूरी तरह समाप्त कर दिया है।

परंतु यहां यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि नगरीकरण द्वारा आने वाले परिवर्तनों ने परिवार के पारंपरिक स्वरूप, नातेदारी तथा जाति-व्यवस्था को पूरी तरह परिवर्तित नहीं किया है। वे अनुकूलन से गुज़र रहे हैं तथा उनके प्रकार्य पूरी तरह समाप्त नहीं हुए हैं।

नगरीय समस्याएं

हम पहले ही देख चुके हैं कि भारत में नगरीकरण किस गति से बढ़ रहा है। इसने मानव जीवन के विविध पक्षों को प्रभावित किया है। नगरीय केंद्रों के विस्तार ने विविध प्रकार की समस्याओं को भी बढ़ाया है। नगरीय परिवेश मलिन है, जीवन निम्नस्तरीय है, एवं नगरीय दुर्व्यवस्था अकल्पनीय है। अत्यधिक भीड़-भाड़ तथा प्रदूषण, आवास तथा झोपड़पट्टी, अपराध तथा बाल अपराध, शराबखोरी तथा मादक द्रव्य सेवन कुछ प्रमुख समस्याएं हैं। हम यहां इनमें से ऐसी कुछ समस्याओं पर विचार करेंगे जिसका देश पर दूरगामी प्रभाव पड़ता है।

नगरों में अत्यधिक भीड़-भाड़ भारत की नगरीय जनसंख्या की विशालता के कारण ही है। इसका प्रभाव आवास, जल-आपूर्ति, साफ-सफाई, यातायात, विद्युत-आपूर्ति तथा रोज़गार के अवसरों में होने वाली गिरावट पर स्पष्ट देखा जा सकता है। आवास विहीन लोगों की बढ़ती हुई संख्या, घर के किरायों में अत्यधिक वृद्धि तथा अत्यल्प उपलब्ध मकानों के लिए होने वाली छीना-झपटी अधिकांश नगरों और कस्बों में देखी जाती है। सन 1991 में भारत में शहरी जनसंख्या का घनत्व लगभग 3500 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर था। यह 400 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर के स्वीकृत मानदंड से अधिक है। इस प्रकार शहरी क्षेत्र में उपलब्ध अधिसंरचना की तुलना में बहुत अधिक लोग निवास करते हैं।

मलिन बस्तियों की समस्या आवास एवं अत्यधिक भीड़-भाड़ से संबंधित है। मलिन बस्तियां टूटे-फूटे उपेक्षित घरों का वह इलाका है जहां लोग आवश्यक जन सुविधाओं के बिना अत्यधिक गरीबी में रहते हैं। विविध प्रकार की मलिन बस्तियों में रहने वाली भारतीय नगरीय जनसंख्या के बारे में आकलन अलग-अलग हैं। फिर भी, एक अनुमान के अनुसार, सन 1995 में मलिन बस्तियों में रहने वाले लोगों की संख्या 450 लाख से कम नहीं थी और जिस तेज़ी से नगरीय जनसंख्या में बढ़ोतरी हो रही है, यह संख्या निश्चित रूप से बढ़ी होगी। ऐसा कहा जाता है कि मलिन बस्तियों में रहने वाली भारतीय जनसंख्या विश्व में लगभग 107 देशों की कुल जनसंख्या से अधिक होगी। सामान्यत: जितना बड़ा नगर होता है, वहां उतने ही अधिक लोग मलिन बस्तियों में निवास करते हैं। निश्चित ही मुंबई, कोलकाता, दिल्ली जैसे महानगरों में छोटे एवं मध्यम श्रेणी के नगरों की तुलना में अधिक मलिन बस्तियां हैं। सन 1991 में मुंबई में मलिन बस्तियों में रहने वालों की संख्या मुंबई की कुल जनसंख्या का 45 प्रतिशत, दिल्ली में वहां की जनसंख्या का 44 प्रतिशत तथा कोलकाता में 42 प्रतिशत था। दूसरे महानगरों जैसे – चेन्नई, बैंगलोर, हैदराबाद, अहमदाबाद में भी स्थिति इससे बेहतर नहीं है। वास्तव में, शहरों की बढ़ती हुई आबादी की आवश्यकताओं के पूरा न हो पाने के कारण मलिन बस्तियों की समस्याएं गुणात्मक रीति से बढ़ती जा रही हैं।

प्रदूषण नगरों की दूसरी प्रमुख समस्या है। प्रदूषण बढ़ने के विभिन्न कारण हैं। नगर अपने गंदे मैले जल एवं औद्योगिक कचरों के 40 से 60 प्रतिशत भाग को समीपवर्ती नदियों में बहाते हैं। छोटे शहर अपने कूड़े-कचरे तथा मल-मूत्र को खुले नालों के द्वारा समीप की नदियों इत्यादि में डालते हैं। इसी तरह से नगरीय उद्योग अपनी पुरानी चिमनियों से धुएं एवं गैसों के द्वारा वातावरण को प्रदूषित करते हैं। दिल्ली में वाहन उत्सर्जन द्वारा 64 प्रतिशत वायु प्रदूषण की बात सभी जानते हैं। वास्तव में दिल्ली निर्विवाद रूप से विश्व के सर्वाधिक प्रदूषित नगरों में से एक है। जो जहर हम वातावरण में घोल रहे हैं वही हमें वायु, जल तथा भोजन के रूप में मिलता है। यह क्रमश: असंख्य रोगों तथा समस्याओं को जन्म देता है जिससे हमारा जीवन दुखों एवं खतरों से भर जाता है।

इन सबके बावजूद नगरीय क्षेत्रों में प्रदूषण की समस्या को न केवल पहचाना गया है बल्कि परिस्थितियों को सुधारने के उपाय भी किए गए हैं। यहां तक कि भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने भी इसमें हस्तक्षेप किया है तथा दिल्ली के समस्त प्रदूषण फैलाने वाली इकाईयों को बंद करने का आदेश दिया है। हाल ही में दिल्ली में अप्रदूषणकारी संपीडित प्राकृतिक ईंधन (सी. एन. जी.) का प्रयोग सर्वोच्च न्यायालय द्वारा बसों तथा ऑटोरिक्शा के लिए अनिवार्य कर दिया गया है।

नगरों द्वारा सभी दूसरी तरह की समस्याओं का भी सामना किया जाता है जिस पर यहां संक्षिप्तता के खयाल से विचार नहीं किया गया है। इन समस्याओं में नगरीय गरीबी, नगरीय योजनाएं तथा नगरीय प्रशासन प्रमुख हैं।

आधुनिकीकरण

आधुनिकीकरण एक प्रक्रिया होने से पहले एक विचार हैं। चूंकि यह एक विचार है, इसलिए समाज विज्ञानी इसके अर्थ को लेकर एक मत नहीं हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के दशकों में औद्योगिक पूंजीवादी देशों जैसे – ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में माना जाता था कि तीसरी दुनिया में आर्थिक विकास का मूलमंत्र आधुनिकीकरण में निहित है। आधुनिकीकरण की अवधारणा को पूंजीवाद द्वारा प्राप्त किए गए सामाजिक विकास द्वारा समझा गया। इस प्रकार की व्याख्या के द्वारा पश्चिमी चिंतक भारत जैसे विकासशील देशों को यह समझाना चाहते थे कि पूंजीवाद की छत्रछाया में ही आर्थिक विकास संभव है।

इस विचार के अनुसार आधुनिकीकरण तकनीकी परिचय और उसके प्रयोग के ज्ञान पर आधारित है। साथ ही, कई सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियां आधुनिकीकरण को संभव बनाने के लिए आवश्यक मानी गई हैं। इनमें से कुछ निम्नलिखित हैं –

1. स्कूली शिक्षा के स्तर में बढ़ोत्तरी
2. संचार माध्यमों का विकास
3. संचार तथा यातायात की उपलब्धता
4. लोकतांत्रिक राजनीतिक संस्थाएं
5. अधिक नगरीय तथा गतिशील जनसंख्या
6. संयुक्त परिवार के स्थान पर एकाकी परिवार
7. जटिल श्रम विभाजन
8. धर्म का सार्वजनिक जीवन में घटता प्रभाव
9. पदार्थों तथा सेवाओं के विनिमय के लिए पारंपरिक तरीकों के स्थान पर विकसित बाज़ार।

इस प्रकार आधुनिकीकरण सामाजिक व्यवस्था में इन परिस्थितियों की उपस्थिति का परिणाम है। यह स्पष्ट है कि यहां आधुनिकीकरण शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में हुआ है। इसलिए आधुनिकीकरण के क्षेत्र तथा विस्तार के संबंध में हमें विभिन्न अवधारणाएं मिलती हैं।

कुछ समाजशास्त्री आधुनिकीकरण को उसके संरचनात्मक पक्ष तक सीमित रखते हैं तो कुछ उसके

सांस्कृतिक पहलू पर ज़ोर देते हैं। कुछ अध्ययनों में राजनीतिक आधुनिकीकरण के मुद्दे को प्रमुखता दी गई है तो कुछ में इसके मनोवैज्ञानिक अर्थ का विश्लेषण किया गया है। सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया के रूप में इस अवधारणा पर चिंतन लर्नर के लेखन में पाया जाता है। 'इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसेज़' में अपने लेख 'माडर्नाइज़ेशन' में लर्नर ने आधुनिकीकरण की व्याख्या इन शब्दों में की है – "आधुनिकीकरण एक प्राचीन प्रक्रिया के लिए एक समकालीन शब्द है – सामाजिक परिवर्तन की यह प्रक्रिया जिसके अनुसार कम विकसित समाज अधिक विकसित समाजों की विशेषताओं को ग्रहण करते हैं।" उन्होंने आगे लिखा है, "इसलिए आधुनिकीकरण सामाजिक परिवर्तन की वह प्रक्रिया है जिसमें विकास इसका आर्थिक घटक है।" स्पष्ट है कि इस शब्द की यह व्याख्या उस अर्थ से मेल खाती है जिसकी चर्चा हमने आरंभ में की थी। अत: आधुनिकीकरण परिवर्तन की वह प्रक्रिया है जो किसी देश को अविकसित स्थिति से विकसित स्थिति की ओर ले जाती है। यह आर्थिक विकास के लिए सामाजिक वातावरण तैयार करती है। औद्योगीकरण, नगरीकरण, राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय को विकास का मापदंड माना जाता है।

तथापि विकास के आर्थिक मापदंडों को स्वीकार करने के साथ ही कुछ समाजशास्त्रियों ने विकास की परख करने के लिए कुछ गैर-आर्थिक मापदंड भी बताए हैं। उनके तर्क के अनुसार केवल बढ़ता हुआ उत्पादन ही विकास के स्तर को जांचने के लिए पर्याप्त नहीं है। एक समाज को बढ़ते उत्पादन के साथ आत्मनिर्भरता की स्थिति की तरफ आगे बढ़ना पड़ता है। अतएव गैर-आर्थिक मापदंड जैसे - शिक्षा का स्तर, संचार के प्रकार्यों में बढ़ोत्तरी, संचार सुविधाओं में वृद्धि तथा परिवर्तन में सामाजिक मानदंडों इत्यादि को भी ध्यान में रखना पड़ता है।

ऊपर दिए गए आधुनिकीकरण के अर्थ में मुख्य रूप से परिवर्तन के संरचनात्मक पक्ष अंतर्निहित हैं। दूसरे शब्दों में, आधुनिकीकरण के अंतर्गत अर्थव्यवस्था, राज्यतंत्र और सामाजिक संस्थाओं में संरचनात्मक रूपांतरण आता है। यहां इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि आधुनिकीकरण की अवधारणा की सांस्कृतिक संदर्भ में भी व्याख्या की गई है। इस अर्थ में आधुनिकीकरण मूल्यों और प्रवृत्तियों में परिवर्तन की ओर संकेत करता है। आधुनिकता में वे मूल्य और मानक निहित हैं जो सार्वजनिक हैं। आधुनिकीकरण के इस पक्ष की व्याख्या करते हुए योगेंद्र सिंह ने यह विचार व्यक्त किया है कि आधुनिकीकरण सार्वजनिक दृष्टिकोण से मुद्दों और उनके मूल्यांकन की तार्किक प्रवृत्ति है। इस प्रकार तकनीकी और आर्थिक विकास किसी समाज में आधुनिकीकरण के स्तर को मापने के एकमात्र मापदंड नहीं हैं। वैज्ञानिक विश्व दृष्टि और मानवतावादी विचार के प्रति प्रतिबद्धता भी उतनी ही आवश्यक है।

इसके साथ ही आधुनिकीकरण के विचार का विश्लेषण परंपरा और आधुनिकता के युगल विचारों के संदर्भ में भी हुआ है। यह तर्क प्रस्तुत किया गया है कि आधुनिकता और परंपरा परस्पर विरोधी हैं। इस अर्थ में अविकसित समाजों को परंपरावादी और विकसित समाजों को आधुनिक की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार आधुनिकीकरण पारंपरिकता से आधुनिकता की ओर परिवर्तन का संकेत देता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार परिवर्तन अनुमानित दिशा में घटित होता है। दूसरे शब्दों में, आधुनिकीकरण के लिए प्रत्येक समाज को एक ही दिशा में जाना पड़ता है और एक ही मार्ग को अपनाना पड़ता है। पहले से प्रचलित मूल्यों और संरचनाओं का स्थान नए मूल्य और संरचनाएं ले लेती हैं।

परंतु विकासशील देशों में समाजशास्त्रियों ने आधुनिकीकरण की इस व्याख्या की आलोचना की है। उनके अनुसार आधुनिकता और परंपरा एक-दूसरे

के विरोधी ध्रुव नहीं हैं। परिवर्तन की प्रक्रिया के दौरान नए मूल्य अपनाए जाते हैं, लेकिन पारंपरिक मूल्यों और संस्थाओं को अनिवार्य रूप से छोड़ नहीं दिया जाता। कोई समाज नए मूल्यों को इसलिए अपनाता है क्योंकि वे अधिक सक्षम और लाभदायक होते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में इन समाजशास्त्रियों का मत है कि आधुनिकीकरण विभिन्न समाजों में अलग-अलग रूपों में विकसित होगा। इस प्रकार आधुनिकीकरण का स्वरूप हर समाज में भिन्न हो सकता है। यह चर्चा दर्शाती है कि आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं में संरचनात्मक और सांस्कृतिक, दोनों आयाम सम्मिलित हैं। फिर भी इस संदर्भ में हम आधुनिकीकरण को मुख्य रूप से परिवर्तन की संरचनात्मक प्रक्रिया के रूप में ग्रहण करेंगे।

भारत में आधुनिकीकरण

पारंपरिक भारतीय समाज में परिवर्तन की प्रकृति को समझने के लिए कुछ समाजशास्त्री सामाजिक परिवर्तन और आधुनिकीकरण के बीच भेद करते हैं। हालांकि पारंपरिक भारत में सामाजिक परिवर्तन हमेशा होता रहा है। परंतु इसकी प्रकृति निश्चित रूप से पूर्व-आधुनिक ही थी। एक पारंपरिक संस्था का स्थान दूसरी संस्था ले लेती थी और सामाजिक व्यवस्था तथा संस्कृति में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं होता था।

ऐतिहासिक दृष्टि से, भारत में आधुनिकीकरण ब्रिटिश शासन की स्थापना के साथ आरंभ हुआ तथा स्वतंत्रता के बाद भी जारी रहा। आधुनिकीकरण की प्रकृति और दिशा इन दोनों चरणों में भिन्न रही है। इसलिए आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं का विश्लेषण दो भिन्न चरणों में करना उचित होगा – औपनिवेशिक तथा उत्तर-औपनिवेशिक चरण।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भारत में आधुनिकीकरण अंग्रेज़ी शासन आने के बाद आरंभ हुआ। पश्चिम के साथ संपर्क से सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक संस्थाओं में दूरगामी परिवर्तन हुए। जीवन के लगभग सभी महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में परिवर्तन देखे गए। अंग्रेज़ी प्रशासन ने न्याय, कृषि, शिक्षा और प्रशासनिक क्षेत्रों में नई प्रणालियां आरंभ की। इसमें से अधिकांश की परिणति संरचनात्मक आधुनिकीकरण में हुई। उदाहरण के लिए, उनके द्वारा प्रारंभ किए गए प्रशासन और न्यायपालिका की व्यवस्था आधुनिक तार्किक मूल्यों पर आधारित थी, जिन्होंने उन पारंपरिक भारतीय न्यायिक मूल्यों का स्थान लिया, जो अधिक्रम और आरोपण के सिद्धांत पर आधारित थे। शिक्षा और कृषि व्यवस्था में इसी प्रकार का बदलाव आया। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में शिक्षा की पाश्चात्य पद्धति लागू की गई और बाद में उसका समुचित विस्तार हुआ। जमींदारी, रैयतवाड़ी और महलवाड़ी जैसी नई भूमि-प्रणालियों ने पूरे भारत में राजस्व प्रशासन को व्यवस्थित कर दिया। औद्योगीकरण, नगरीकरण, संचार और यातायात, सेना और उभरते हुए औद्योगिक कार्मिक वर्ग में भी आधुनिकीकरण की प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर होती हैं। राष्ट्रवादी राजनीतिक नेतृत्व का उदय और विकास भी भारतीय समाज के बढ़ते आधुनिकीकरण का परिणाम था। वास्तव में बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राष्ट्रवादी नेतृत्व इतना शक्तिशाली हो गया कि स्वतंत्रता आंदोलन ने स्वयं आधुनिकीकरण की एक नई संस्कृति को जन्म दिया।

ऊपर दिए गए विवरणों से स्पष्ट है कि आधुनिकीकरण के औपनिवेशिक दौर ने संरचना और संस्कृति का ऐसा संजाल बनाया जो आधुनिक था और पूरे भारत में प्रभावशाली था। फिर भी यहां यह संकेत करना आवश्यक है कि औपनिवेशिक दौर में स्थानीय, क्षेत्रीय संरचनाएं जिनमें परिवार, जाति और ग्राम शामिल हैं, आधुनिकीकरण की शक्तियों से प्रभावित नहीं हुए। इन स्तरों पर अंग्रेज़ों ने कम से कम हस्तक्षेप करने की नीति अपनाई थी। फलस्वरूप हमें परिवार,

जाति और ग्राम की संरचना में विशेष परिवर्तन दिखाई नहीं देते।

अब हम औपनिवेशिक शासन के बाद भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का अध्ययन करेंगे। आज़ादी के बाद आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में कुछ मूलभूत परिवर्तन हुए हैं। सामाजिक व्यवस्था का प्रत्येक क्षेत्र आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के सक्रिय प्रभाव में है। अब आधुनिकीकरण विकास की नीति का एक अखंड भाग बन गया है।

वयस्क मताधिकार पर आधारित शासन के लोकतांत्रिक स्वरूप स्वीकार किए जाने के बाद राजनीतिक व्यवस्था ने एक नया स्वरूप ग्रहण किया है। राजनीतिक पार्टियां व्यवस्था के शक्तिशाली भाग के रूप में उभरी हैं। इस प्रकार लोकतांत्रिक, राजनीतिक संरचना ने सफलतापूर्वक जनता में राजनीतिक चेतना का संचार किया है। राजनीतिकरण की प्रक्रिया पंचायती राज की संस्थाओं से और भी अधिक गतिशील हुई है।

विवाह और संपत्ति के हस्तांतरण के मामलों में न्यायिक सुधार से परिवार के पारंपरिक ढांचे का आधार प्रभावित हुआ है। उसने परिवार में समानता के सिद्धांत को लागू किया है, जिससे महिलाओं की स्थिति सुधरी है। इसी प्रकार जाति ने नई प्रकार्यात्मक भूमिका प्राप्त की है। उसने सहभागी चरित्र ग्रहण किया है। दलितों में नई चेतना जागी है। राजनीति में जातियों की बढ़ती भागीदारी इस ओर संकेत करती है। साथ ही, भूमि-सुधारों के कारण कृषि संबंधी सामाजिक संरचना में भी संरचनात्मक सुधार हुआ है।

परंतु यहां इस ओर ध्यान आकर्षित करना उचित होगा कि भारत में आधुनिकीकरण की दिशा दूसरे स्थानों की तुलना में भिन्न रही है। इस संदर्भ में दो महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर ध्यान दिया जाना चाहिए। पहला, आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में कई पारंपरिक संस्थाएं और गतिविधियां फिर से बहाल कर दी गई हैं। उदाहरण के तौर पर, धार्मिक उपदेशक अपने विचारों का प्रचार करने के लिए आधुनिक संचार माध्यमों का प्रयोग कर रहे हैं। अब भारत में एक टी. वी. चैनल पूरी तरह धार्मिक प्रचार के लिए समर्पित है। जातिगत संगठन अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए संचार के नए तरीकों का प्रयोग कर रहे हैं। दूसरा, आधुनिकीकरण के ढांचों में भी विसंगतियां दृष्टिगत हो रही हैं। यद्यपि परिवार में सरंचनात्मक परिवर्तन आया है परंतु संयुक्त परिवार की प्रतिबद्धताएं और मूल्य अभी भी कायम हैं। बढ़ते जाति-संघर्ष के बावजूद लोकतांत्रिक सहभागिता बढ़ रही है।

भारत में आधुनिकीकरण ने पारंपरिक संस्थाओं को पूरी तरह नहीं त्यागा है। योगेंद्र सिंह ने अपने अध्ययन 'मॉडर्नाइज़ेशन ऑफ इंडियन ट्रेडिशन' में इस सत्य को सही ढंग से उजागर किया है। वे लिखते हैं, ''पारंपरिक संस्थाओं का स्वरूप अक्षुण्ण हो सकता है परंतु आधुनिकीकरण को समाहित करने के लिए उनमें तात्त्विक रूप से भारी बदलाव आ सकता है।'' इस अर्थ में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया ने भारत में एक विशिष्ट रूप धारण किया है। पारंपरिक संस्थाओं ने परिवर्तन की प्रक्रिया के दौरान अनुकूलन की क्षमता को प्रदर्शित किया है।

शब्दावली

संविदात्मक संबंध : यह दो या दो से अधिक पक्षों के बीच होने वाला औपचारिक समझौता है। इसमें भाग लेने वाले पक्ष समझौते की शर्तों को तोड़े बिना अपने हिस्से में अधिक लाभ ले लेते हैं।

मौसमी प्रवसन : यह कृषि श्रमिकों द्वारा किया जाने वाला प्रवास है जिसे वे विशेष रूप से फसल के समय काम की खोज में करते हैं।

अभ्यास प्रश्न

1. संरचनात्मक परिवर्तन से आप क्या समझते हैं ?
2. स्वतंत्रता के पश्चात उद्योगों के क्षेत्र में क्या महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं?
3. औद्योगीकरण के सामाजिक एवं आर्थिक परिणामों का विश्लेषण करें।
4. नगरीकरण एवं नगरीयवाद में अंतर बताइए।
5. भारतीय समाज पर नगरीकरण के प्रभाव की चर्चा कीजिए।
6. आधुनिकीकरण क्या है ?
7. भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का विश्लेषण कीजिए।

संदर्भ-ग्रंथ

- राव, एम. एस. ए. (सं.) ***अरबन सोशियोलॉजी इन इंडिया,*** ओरिएंट लौंगमैन, नई दिल्ली, 1974
- सिंह, योगेंद्र, **माडर्नाइज़ेशन ऑफ इंडियन ट्रेडिशंस,** द थॉमसन प्रेस लिमिटेड, नई दिल्ली, 1973
- श्रीनिवास, एम. एन., ***सोशल चेंज इन माडर्न इंडिया,*** ओरिएंट लौंगमैन, नई दिल्ली, 1972
- श्रीनिवास, एम. एन., ***द डोमिनेंट कॉस्ट एंड अदर एसेज,*** ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1987
- सिंह, योगेंद्र, ***एसेज ऑन माडर्नाइज़ेशन इन इंडिया,*** मनोहर प्रकाशन, दिल्ली, 1978
- मिश्रा, आर. पी., ***अरबनाईज़ेशन इन इंडिया : चैलेंजेज एंड ऑपरच्युनिटीज,*** रीजैंसी पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 1998

अध्याय 2

सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रियाएं

पिछले अध्याय में हमने परिवर्तन की संरचनात्मक प्रक्रियाओं का अध्ययन किया है। आप इस अवधारणा से परिचित हैं कि संस्कृति ऐसे प्रतीकों, विचारों तथा भौतिक उत्पादों का समुच्चय है जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती है। संस्कृति सामाजिक गतिविधियों का नियमन करती है। इस प्रकार वर्तमान संदर्भ में परिवर्तन की सांस्कृतिक प्रक्रियाएं उन विभिन्न तरीकों को दर्शाती हैं जिनके द्वारा भारतीय संस्कृति भारत में आरंभ हुए विविध परिवर्तनों को प्रभावित करती है। परिवर्तन के स्रोतों को दो मुख्य श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है – आंतरिक तथा बाह्य। जहां परिवर्तन के आंतरिक स्रोत समाज के भीतर से उत्पन्न होते हैं, वहीं बाह्य स्रोत किसी समाज में बाहर से आते हैं। भारत की सांस्कृतिक संरचना में परिवर्तन आंतरिक और बाह्य, दोनों प्रकार के स्रोतों से उत्पन्न हुए हैं।

आने वाले खंडों में इन सांस्कृतिक प्रक्रियाओं के महत्त्व की चर्चा चार अवधारणाओं के माध्यम से की गई है – संस्कृतिकरण, इस्लामीकरण, पश्चिमीकरण और धर्मनिरपेक्षीकरण।

संस्कृतिकरण

संस्कृतिकरण भारत में सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों की व्याख्या करने की सर्वाधिक प्रभावशाली अवधारणा के रूप में सामने आया है। सबसे पहले एम. एन. श्रीनिवास ने मैसूर की पूर्व रियासत में कूर्गों के अपने अध्ययन के दौरान इस शब्द का प्रयोग किया था। बाद में समाजशास्त्रियों ने इस अवधारणा में संशोधन किया ताकि सांस्कृतिक गतिशीलता की प्रक्रिया को भारत की पारंपरिक सामाजिक बनावट के संदर्भ में व्याख्यायित किया जा सके।

श्रीनिवास के अनुसार, ''संस्कृतिकरण एक प्रक्रिया है जिसके तहत, एक 'निम्न' हिंदू जाति या कोई आदिवासी या अन्य समूह अपनी परंपरा, रीति-रिवाज, सिद्धांत और जीवन-शैली को एक उच्च और बहुधा 'द्विज जाति' के नियमों में परिवर्तित कर देता है। श्रीनिवास ने पाया कि निम्न जातियां, जाति अनुक्रम में अपनी स्थिति को ऊपर उठाने के लिए, ब्राह्मणों के कई तौर-तरीकों को अपनाती हैं। साथ ही, इन जातियों ने अपने उन कई रीति-रिवाजों को छोड़ दिया जिन्हें अपवित्र समझा जाता है; जैसे – मांस-भक्षण, मदिरापान और पशुबलि। उन्होंने ब्राह्मणों की जीवन-शैली को वेशभूषा, आहार और रीति-रिवाजों के संदर्भ में अपनाया। इन सभी का अनुकरण करने से यह निम्न जातियां जाति के स्थानीय अनुक्रम में ऊंचे स्थान की हकदार हो गईं। गतिशीलता की यह प्रक्रिया ब्राह्मणीकरण कहलाई। परंतु बाद में यह ज्ञात हुआ कि ब्राह्मणीकरण सामान्य प्रवृत्ति नहीं है और कई उदाहरणों में निम्न जातियों ने गैर-ब्राह्मण उच्च जातियों के तौर-तरीकों को अपनाया था। अतएव ब्राह्मणीकरण शब्द के

स्थान पर संस्कृतिकरण शब्द का प्रयोग हुआ जिसे अधिक उपयुक्त माना गया है।

संस्कृतिकरण किसी जाति की उच्च स्थिति के लिए एक आंतरिक स्रोत है। इस प्रक्रिया से उत्पन्न गतिशीलता से व्यवस्था में केवल स्थिति का बदलाव होता है। इससे संरचनात्मक परिवर्तन नहीं होता। जाति अनुक्रम के अंदर ही बदलाव आता है परंतु जाति-व्यवस्था अपने आप में नहीं बदलती।

संस्कृतिकरण हिंदू जातियों तक ही सीमित नहीं है। यह आदिवासी समूहों में भी पाया जाता है। संस्कृतिकरण के द्वारा आदिवासी समूह जाति के स्वरूप को प्राप्त करते हैं। सांस्कृतिक परिवर्तन की यह प्रक्रिया पश्चिमी भारत के भीलों और मध्य भारत के गोडों, हो तथा उरांवों में देखने को मिलती है। इस अर्थ में संस्कृतिकरण, पर-संस्कृतिकरण की सामान्य प्रक्रिया है। यह समूहों और समुदायों की ऊर्ध्वमुखी गतिशीलता का माध्यम है। यह निम्न जातियों को उच्च जातियों के रीति-रिवाजों, प्रथाओं और सिद्धांतों के अनुकरण से प्रतिष्ठा अर्जित करने के लिए प्रेरित करती है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, केवल ब्राह्मणों के रिवाजों का ही अनुकरण निम्न जातियों द्वारा नहीं किया जाता। दूसरी गैर-ब्राह्मण जातियां भी जीवन-शैली के अनुकरण के लिए मानक आदर्श की भूमिका निभाती हैं। संस्कृतिकरण के इस पक्ष को 'प्रभु जाति' की अवधारणा की सहायता से व्याख्यायित किया गया है। श्रीनिवास ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है, ''समाज में प्रमुखता प्राप्त करने के लिए किसी जाति के पास पर्याप्त मात्रा में स्थानीय कृषि योग्य भूमि, संख्या बल तथा उस क्षेत्र के सामाजिक अनुक्रम में ऊंचा स्थान होना चाहिए।'' भूमि-अधिकार, संख्या-बल तथा पारंपरिक प्रतिष्ठा के अतिरिक्त, दूसरे कारकों; जैसे – शिक्षा, प्रशासनिक पद और आय के नगरीय स्रोतों का भी ग्रामीण क्षेत्रों में शक्ति और प्रतिष्ठा प्राप्त करने में योगदान रहता है। प्रभु जातियों का अस्तित्व स्थानीय होता है और वे संस्कृतिकरण करने वाली जातियों के लिए संदर्भ-भूमिका का कार्य करती हैं। तथापि स्थानीय प्रभु जातियों के माध्यम से सांस्कृतिक संप्रेषण की प्रक्रिया विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न रूप धारण करती हैं। यदि क्षेत्र की प्रभु जाति ब्राह्मण है तो वह संस्कृतिकरण में ब्राह्मणवादी विशिष्टताओं को संप्रेषित करेगी। परंतु यदि स्थानीय प्रभु जाति जाट है तो यह जाटवादी विशिष्टताओं को संप्रेषित करेगी। इस अर्थ में संस्कृतिकरण सांस्कृतिक परिवर्तन की अतिक्षेत्रीय प्रक्रिया है।

यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि संस्कृतिकरण का क्षेत्रीय रूप उसकी प्रभु जाति के साथ-साथ शेष भारत के रूप से पूरी तरह स्वतंत्र नहीं है। जैसा कि श्रीनिवास ने कहा है, प्रभाव के स्रोत व्यापक भारतीय परंपरा में खोजे जा सकते हैं; जैसे – 'तीर्थयात्रा, हरिकथा और धार्मिक नाटक।' श्रीनिवास ने गुजरात के पाटीदारों का उदाहरण दिया है, जिन्होंने इन स्रोतों और बल्लभाचारी व स्वामीनारायण संप्रदायों से काफी कुछ ग्रहण किया है।

तथापि संस्कृतिकरण की प्रक्रिया हमेशा स्थिर और निर्बाध नहीं होती। जब निचली जातियां प्रभु जातियों की जीवन-शैली का अनुकरण करने लगती हैं तब वह हमेशा विरोध रहित नहीं होता। रस्मों और वेशभूषा आदि में छोटे-मोटे बदलावों को अनदेखा कर दिया जाता है। परंतु जब निचली जातियां ऊंची जातियों के महत्त्वपूर्ण चिह्नों को अपनाती हैं, तब न केवल उसका विरोध होता है, बल्कि दंड भी दिया जाता है। देश के विभिन्न भागों में ऐसे कई विवादों और दंडों के उदाहरण मिले हैं। जब पूर्वी उत्तर प्रदेश की नमक बनाने वाली नोनिया जाति ने सामूहिक रूप से यज्ञोपवीत धारण किया, तब ऊंची जाति के

ज़मींदारों ने उन्हें 'शारीरिक यंत्रणा दी, उनका यज्ञोपवीत तोड़ दिया और पूरी जाति पर सामूहिक दंड-शुल्क लगा दिया।' इसी प्रकार उत्तरी बिहार में ऊंची जाति के भूमिहारों ने यादवों (अहीरों) को ऊंची जाति के प्रतिष्ठासूचक चिह्नों को ग्रहण करने से रोका। इस प्रकार के हिंसक संघर्ष उत्तरी भारत तक सीमित नहीं रहे। सुदूर दक्षिण के कल्लार नामक प्रधान जाति के आदि द्रविड़ों के विरुद्ध दिसंबर 1930 में आठ पाबंदियां लगाईं गईं, जिनका उल्लंघन किए जाने पर हिंसक घटनाएं हुईं। उनकी झोपड़ियां जला दी गईं, खाद्यान्नों के भंडार नष्ट कर दिए गए और पशु भी लूटे गए।

क्षेत्र विशेष की प्रभु जाति की ऐसी प्रतिक्रिया को ध्यान में रखते हुए, निचली जातियों ने अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए दूसरा उपाय अपनाया। वे उन व्यवहारों के अनुकरण से बचते रहे जो प्रभु जाति को क्षुब्ध करते। बल्कि वे इस दिशा में धैर्यपूर्वक आगे बढ़े। कुछ मामलों में संस्कृतिकरण को अपनाने वाली जातियों ने खुलेआम नियमों का उल्लंघन किया।

यद्यपि अधिकांशत: संस्कृतिकरण स्थानीय रंग लिए होता है परंतु वह भारत के प्रत्येक भाग में हुआ है। इस अर्थ में यह भारतीय इतिहास में सांस्कृतिक परिवर्तन की एक प्रमुख प्रक्रिया रही है। ऐतिहासिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि विभिन्न आदिवासी समूहों को उनकी सामाजिक स्थिति के अनुसार जाति-संस्तरण में समाहित कर लिया गया। इन प्रक्रियाओं ने नई जातियों अथवा उपजातियों को भी जन्म दिया। नई जातियों अथवा उपजातियों का निर्माण वास्तव में जाति-व्यवस्था के भीतर सामाजिक गतिशीलता को दर्शाता है।

इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से संस्कृतिकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जो विभिन्न जातियों की प्रतिष्ठा में परिवर्तन लाती है। सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रिया न केवल जीवन-शैली का अनुकरण करने की अनुमति देती है, बल्कि वह नए विचारों और मूल्यों को भी सामने लाती है। मध्यकाल का भक्ति आंदोलन इस संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। यह पूरे भारत में होने वाला आंदोलन था, जिसमें निचली जातियों और गरीबों ने सक्रिय रूप से भाग लिया। भक्ति-संतों ने घोषणा की कि मनुष्य की प्रतिष्ठा उसके कार्यों पर निर्भर करती है न कि उसके जन्म पर। इस आंदोलन के कारण निम्न जातियों तथा अस्पृश्य जातियों में उत्पन्न हुए कई व्यक्ति धार्मिक नेता बन गए — नामदेव दर्ज़ी थे, तुकाराम दुकानदार थे, रैदास मोची थे और कबीर जुलाहा थे। इस आंदोलन ने अत्यधिक जटिल धर्माडंबर तथा जातिगत अत्याचारों को झकझोर दिया। इसने सामाजिक न्याय और समानता के मूल्यों का प्रचार-प्रसार किया।

इस्लामीकरण

यहां ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि सांस्कृतिक परिवर्तन की एक और प्रक्रिया भारत में कार्य करती रही है, जिसका संबंध संस्कृतिकरण की प्रक्रिया से जोड़ा गया है। समाजशास्त्रियों ने इसे इस्लामीकरण कहा है। भारत में इस्लाम का संपर्क आठवीं शताब्दी से प्रारंभ होता है। आज लगभग 14 प्रतिशत भारतवासी इस्लाम के अनुयायी हैं। इस प्रकार यह हमारे देश की एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक परंपरा है।

इस्लामीकरण अर्थात इस्लाम के प्रचार-प्रसार की प्रक्रिया हमारी सांस्कृतिक विरासत का अभिन्न अंग है। अत: इस्लामीकरण के दो प्रमुख पक्ष हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। पहला, वे परिवर्तन जो मुसलमानों के जीवन में भारत में इस्लाम की परंपराओं के आंतरिक परिवर्तनों के फलस्वरूप आए हैं। दूसरे, हिंदू-धर्म और इस्लाम के बीच उसके लंबे इतिहास के दौरान हुई अंत:क्रिया जिसने एक मिली-जुली संस्कृति को जन्म दिया है।

इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण विकास इस्लाम की स्थापना और विस्तार के आरंभिक दौर में हुआ। मोटे तौर पर यह 1206-1818 ईस्वी के बीच का काल है। कई कारणों से यह एक महत्त्वपूर्ण काल था। जैसा कि योगेंद्र सिंह ने कहा है, "इस काल में न केवल संघर्ष और तनाव के दौर आए बल्कि हिंदुओं और इस्लाम की परंपराओं के बीच अनकूलन और समन्वय भी स्थापित हुआ।" इस अंत:क्रिया का स्वाभाविक परिणाम इस्लाम का हिंदू और अन्य परंपराओं के साथ अधिक स्थायी सह-अस्तित्व था।

जिस समय इस्लाम भारत में पहुंचा, उसका सामाजिक संगठन बदलने लगा था। 'समानता और भाईचारा' अभी भी उसके आदर्श थे पर मुस्लिम समाज के भीतरी सामाजिक वर्गीकरण सामने आ चुके थे। इस्लाम के आगमन के समय शासक वर्ग उच्च वर्ग से संबंधित थे। वे अशरफ कहलाते थे। इसमें चार उच्च पदस्थिति वाले समूह थे – सैय्यद, शेख, मुगल और पठान। बाद में इन समूहों के जातिगत लक्षण प्रकट होने लगे। ये राजनीतिक और सांस्कृतिक नेतृत्व के संवाहक हुए थे तथा इन्होंने इस्लाम की सांस्कृतिक परंपरा को आगे बढ़ाया।

तथापि, यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि इस दौर में भारतीय मुस्लिम समाज में कई परिवर्तन हुए। यह परिवर्तन केवल बाहरी कारकों के माध्यम से नहीं हुए, बल्कि उन नई सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों के कारण भी हुए जो अब इस्लाम की पहचान बन चुके थे।

इस परिप्रेक्ष्य में सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू विभिन्न सूफी संप्रदायों का उद्भव और विकास था। सूफी अत्यंत गहराई से भक्ति करने वाले लोग थे। सूफीवाद ईश्वर तथा ब्रह्मांड की एकता की शिक्षा देता था। सूफियों ने प्रेम को ईश्वर और जीव के बीच की कड़ी मानकर उस पर अत्यधिक बल दिया। अबुल-फज़ल ने सोलहवीं शताब्दी में भारत में सत्रह सूफी संप्रदायों के अस्तित्व का उल्लेख किया है। सूफियों के कुछ आचार जैसे – आत्मशुद्धि, उपवास तथा प्राणायाम इत्यादि पर, बौद्ध धर्म और योग साधना का प्रभाव पाया जाता है। यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि बौद्ध और वेदांत के विचारों ने सूफीवाद को प्रभावित किया। यह भी कहना कठिन है कि सूफी विचार कुरान से उत्पन्न हुए। यहां इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि सूफियों तथा हिंदू योगियों के विचारों में ईश्वर और जीवन के संबंध को लेकर अनेक समानताएं थीं। इसने आपसी सहिष्णुता और समझ के लिए आधारभूमि बनाई।

हालांकि मध्ययुग में भारत में कई सूफी संप्रदाय थे, परंतु केवल दो ने तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में महत्त्वपूर्ण प्रभाव छोड़ा। ये थे – चिश्ती और सुहरावर्दी संप्रदाय। ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती ने भारत में चिश्ती संप्रदाय की स्थापना की। चिश्ती संतों में सबसे प्रसिद्ध थे – निज़ामुद्दीन औलिया तथा नसीरुद्दीन चिराग-ए-देहली। ये मुक्त भाव से निम्न वर्ग के व्यक्तियों, जिनमें हिंदू भी थे, से मिलते थे। ये सादा जीवन व्यतीत करते थे और लोगों से हिंदवी या हिंदी में बातचीत करते थे। उनकी लोकप्रियता में वृद्धि का एक कारण था उनकी संगीतमय अभिव्यक्ति जिसे 'सम' कहते थे और जिसमें हिंदी काव्य का प्रयोग श्रोताओं पर अधिक प्रभाव डालने के लिए किया जाता था। सुहरावर्दी संप्रदाय भारत में इसी समय आया परंतु उसकी गतिविधियां मुख्य रूप से पंजाब और आस-पास के क्षेत्रों तक ही सीमित रहीं।

इस्लाम की सूफी परंपरा के अतिरिक्त भी हिंदू परंपरा के दूसरे पक्षों का इस्लाम के साथ समन्वय कराने का प्रयास किया गया। मुस्लिम शासकों में अकबर द्वारा आरंभ किया गया 'दीन-ए-इलाही' नामक मिश्रित संप्रदाय सुप्रसिद्ध है। दारा शिकोह ने

उपनिषद् के विचारों के साथ इस्लाम के समन्वय की वकालत की। साहित्य के क्षेत्र में अमीर खुसरो ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया जिसके कारण उनकी लोकप्रियता आज तक कायम है। बहुत से अन्य मुस्लिम कवि और लेखक भी हमारे भारतीय साहित्यिक इतिहास का हिस्सा बन गए हैं। उदाहरण के लिए, जायसी, नलेइ, अब्दुल रहीम खान-ए-खाना, मिर्ज़ा असदुल्ला खान गालिब इत्यादि हमारी मिली-जुली संस्कृति के सच्चे प्रतिनिधि रहे हैं।

तथापि यहां यह स्मरण रखना आवश्यक है कि सांस्कृतिक सह-अस्तित्व तस्वीर का केवल एक पहलू है। इस परंपरा को मानने वाला एक बड़ा वर्ग रूढ़िवादी विचारधारा के आधार पर पलता रहा। उच्च प्रतिष्ठा वाले वर्ग मुस्लिम शासन के अंतर्गत प्रभावशाली भूमिका में रहे तथा इस्लाम के प्रचार-प्रसार में उन्होंने सक्रिय भूमिका निभाई। ब्रिटिश शासनकाल में स्थिति और बदल गई। उदारवादी परंपरा का स्थान धीरे-धीरे रूढ़िवादी विचारों और विश्वासों ने ले लिया। स्थानीय क्षेत्रीय स्तर पर जहां मुस्लिम जनसंख्या का बड़ा भाग धर्मांतरण के द्वारा हिंदू से मुसलमान बने मुसलमानों का था, वहां एक मिलती-जुलती प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। इस संदर्भ में इस्लामीकरण का अर्थ धर्मांतरित मुसलमानों में उच्च सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति प्राप्त करने की गतिशीलता थी। सामाजिक प्रतिष्ठा और शक्ति तथा लाभ में वृद्धि की लालसा ने निम्न जातियों को इस्लाम की ओर प्रेरित किया। हालांकि धर्मांतरण द्वारा इस्लामीकरण हमेशा लाभप्रद नहीं रहा, परंतु वह लोगों के लिए मनोवैज्ञानिक रूप से संतोष प्रदान करने वाला था। बड़े पैमाने पर धर्मांतरण से मिलनेवाली उच्च सामाजिक स्थिति को हिंदुओं अथवा मुसलमानों द्वारा स्वाभाविक स्वीकृति प्रदान नहीं की गई। इस अर्थ में इस्लामीकरण एक सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रिया के रूप में संस्कृतिकरण से साम्य रखता है।

पश्चिमीकरण

संस्कृतिकरण के साथ ही पश्चिमीकरण सांस्कृतिक परिवर्तन की दूसरी बड़ी प्रक्रिया है। संस्कृतिकरण की तरह, पश्चिमीकरण शब्द को भारतीय समाजशास्त्र में एम. एन. श्रीनिवास ने लोकप्रिय बनाया है। इसका प्रयोग समकालीन भारत में सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन के बाह्य स्रोतों का विश्लेषण करने के लिए किया गया है। श्रीनिवास ने अपनी पुस्तक 'सोशल चेंज इन मॉडर्न इंडिया' में पश्चिमीकरण की व्याख्या इन शब्दों में की है, "इस शब्द में डेढ़ सौ वर्षों से अधिक के अंग्रेज़ी शासन के फलस्वरूप भारतीय समाज और संस्कृति में आए परिवर्तन तथा विभिन्न स्तरों पर प्रौद्योगिकी, संस्थाओं, विचारधारा तथा मूल्यों में आए परिवर्तन सम्मिलित हैं।"

यहां यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि संस्कृतिकरण तथा पश्चिमीकरण, इन दोनों अवधारणाओं का प्रयोग सामाजिक परिवर्तन के सांस्कृतिक संदर्भ की व्याख्या करने के लिए किया गया है, संरचनात्मक संदर्भ की नहीं। वे सामाजिक संरचना में आ रहे परिवर्तनों की ओर संकेत नहीं करते। दूसरे, आधुनिकीकरण के स्थान पर पश्चिमीकरण शब्द को समाजशास्त्रियों ने तरजीह दी है क्योंकि यह शब्द तटस्थ है। यह अच्छे या बुरे का संकेत नहीं देता। इस प्रकार अवधारणात्मक सीमाओं के बावजूद 'पश्चिमीकरण' शब्द भारतीय संस्कृति पर अंग्रेज़ों के प्रभाव की व्याख्या करने के लिए उपयुक्त शब्द है।

पिछले अध्याय में हमने देखा कि भारत में आधुनिक उद्योगों की स्थापना ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति के पश्चात हुई। पश्चिम में उन्नीसवीं शताब्दी में विज्ञान और तकनीक की उन्नति के साथ ही भारत में भी कारखानों में उत्पादन शुरू हो गया। उद्योगों के प्रसार के कारण यातायात और संचार के तीव्र साधनों की आवश्यकता सामने आई। रेल सेवा, डाक सेवा,

दूरसंचार और सड़क यातायात में वृद्धि यहीं से प्रारंभ होती है। इन सबकी स्वाभाविक परिणति कस्बों और नगरों के विकास के रूप में हुई।

अट्ठारहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में कृषि-व्यवस्था में नई प्रणालियों को अपनाया गया। भूमि व्यवस्था की संशोधित प्रणाली को आरंभ किया गया। इनमें से महत्त्वपूर्ण प्रणालियां थीं – ज़मींदारी, रैयतवाड़ी और महलवाड़ी। भूमि के क्षेत्रों तथा स्वामित्व के विवरण का लेखा-जोखा रखने के लिए भू-कर मानचित्र बनाए गए। उनका प्रयोग राजस्व को निर्धारित करने और भूमि से निश्चित आय प्राप्त करने के लिए किया गया।

इसी प्रकार भारत में आधुनिक सेना, पुलिस और प्रशासनिक व्यवस्था ब्रिटिश शासन के सुदृढ़ होने के बाद आई। सुसंगठित न्यायालयों के साथ आधुनिक न्यायिक व्यवस्था के आरंभ होने से देश की न्यायिक प्रणाली में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया।

देश में शिक्षा संस्थाओं की स्थापना के दूरगामी परिणाम हुए। हालांकि ब्रिटिश शासन से पहले भी हमारे यहां पारंपरिक शिक्षा प्रणाली थी परंतु वह सबके लिए सुलभ नहीं थी। शिक्षा मुट्ठी भर लोगों के लिए ही सुलभ थी, जो मुख्यत: उच्च जातियों से संबंध रखते थे। इस अर्थ में, उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रारंभ किए गए स्कूलों और कॉलेजों ने भारत में आधुनिक शिक्षा प्रणाली की नींव रखी। अंग्रेज़ अपने साथ मुद्रण यंत्र भी लाए जिससे समाचार-पत्रों, पुस्तकों और पत्रिकाओं का प्रकाशन संभव हुआ। सन 1857 में मुंबई, कोलकाता तथा चेन्नई में तीन विश्वविद्यालयों की स्थापना के साथ उच्च शिक्षा के रास्ते खुल गए।

इसके साथ ही पश्चिमीकरण द्वारा नए विचार और सिद्धांत सामने आए। श्रीनिवास के शब्दों में इन विचारों में सबसे महत्त्वपूर्ण है 'मानवतावाद'। यह सभी मनुष्यों के कल्याण की बात करता है चाहे वह किसी भी जाति, आर्थिक वर्ग, धर्म, आयु अथवा लिंग का हो। दूसरे शब्दों में, समानता, स्वतंत्रता और धर्म-निरपेक्षता की अवधारणाएं मानवतावाद की मूल अवधारणा में सम्मिलित हैं। वास्तव में पश्चिमीकरण में मानवतावाद अंतर्निहित है, जिसने उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कई सुधारों को संभव बनाया। अमानवीय कृत्यों जैसे – सती-प्रथा, स्त्री-शिशु हत्या तथा दास-प्रथा पर रोक प्रबुद्ध भारतीय नेतृत्व द्वारा प्रेरित सुधारों का परिणाम था।

पश्चिमीकरण का दूसरा प्रभाव व्यवसायी मध्यवर्ग तथा व्यापारी वर्ग का उदय था। प्रारंभ में यह उन इलाकों तक सीमित था जहां अंग्रेज़ों का प्रभाव अधिक था। वे उन व्यवसायों में कार्यरत थे जिसमें पारंपरिक ढंग की कार्यपद्धति से भिन्न दक्षता और प्रशिक्षण की आवश्यकता थी। इस कोटि के व्यक्ति सच्चे अर्थों में सांस्कृतिक दृष्टि से पश्चिमी रंग में रंगे हुए नहीं थे पर पश्चिमी संस्कृति से उनका संपर्क स्पष्ट था। आने वाले समय में इसी वर्ग से व्यावसायिक लोगों और शिक्षित समूहों की एक नई पीढ़ी का उदय हुआ।

यह दिलचस्प बात है कि पश्चिमीकरण ने राजनीतिक विचारों तथा सोच को भी प्रभावित किया। राष्ट्रीयता और लोकतंत्र का उदय पश्चिम में दो महान विचारों के रूप में हुआ। ये दोनों विचार विश्व के विभिन्न भागों में फैले। भारत में ये पश्चिमीकरण के माध्यम से आए। राष्ट्रीयता उस चेतना का प्रतीक है जो राष्ट्र की नींव रखती है। भारत में राष्ट्रीय चेतना उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आई। इससे पहले कि इस चेतना का उपयोग उपनिवेशवादी ब्रिटिश शासन से मुक्ति के लिए किया जाए, परंपरागत भारतीय समाज में सुधार लाने की आकांक्षा का उदय हुआ। सन 1828 में बंगाल में राजा राममोहन राय

द्वारा 'ब्रह्मसमाज' की स्थापना और सन 1875 में स्वामी दयानंद सरस्वती द्वारा गुजरात में 'आर्यसमाज' की स्थापना का उद्देश्य हिंदू समाज में सुधार करना था। इन सुधारवादी आंदोलनों का प्राथमिक उद्देश्य भारतीय समाज की कुरीतियों, जैसे – जाति व्यवस्था की जड़ता और महिलाओं की निम्न सामाजिक स्थिति को दूर करना था।

जैसा कि कहा जा चुका है, भारत में राष्ट्रीयता का उदय पश्चिम के संपर्क के फलस्वरूप हुआ। यूरोप के इतिहास और अंग्रेज़ी साहित्य के अध्ययन द्वारा नए शिक्षित समूहों का परिचय स्वतंत्रता तथा लोकतंत्र के आदर्शों से हुआ। भारत की राजनीतिक पहचान के प्रश्न पर ज़ोरदार वाद-विवाद हुआ जिससे धीरे-धीरे स्वतंत्रता की मांग उठने लगी। यहां भारतीय राष्ट्रवाद के विकास के लंबे इतिहास की रूपरेखा नहीं खींची जाएगी। हमारा उद्देश्य केवल यह दर्शाना है कि राष्ट्रीयता, लोकतंत्रीय राज्य व्यवस्था तथा धर्मनिरपेक्षता के आदर्श भारत में विशिष्ट ऐतिहासिक संदर्भ में आए हैं। इन व्यवस्थाओं ने भारत में सांस्कृतिक आधुनिकता की आधारशिला रखी।

धर्मनिरपेक्षीकरण

धर्मनिरपेक्षीकरण सामाजिक परिवर्तन की वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा सार्वजनिक मामलों में धर्म का प्रभाव कम होता जाता है। धर्म का स्थान अन्य स्पष्टीकरण करने वाले तथ्यों तथा घटनाओं ने ले लिया। सामाजिक जीवन को परिचालित करने में धर्म का महत्त्व कम हो जाता है तथा उसका स्थान व्यावहारिक दृष्टि ले लेती है। यथार्थ की व्याख्या तर्क और युक्ति के आधार पर की जाती है। जब धर्मनिरपेक्षीकरण विकसित होता है तब प्राकृतिक और सामाजिक जीवन को समझने के नज़रिए के रूप में धर्म का स्थान विज्ञान ले लेता है। इस प्रकार धर्मनिरपेक्षीकरण शब्द का सांकेतिक अर्थ यह है कि वे मुद्दे जो पहले धार्मिक समझे जाते थे, अब उसी रूप में नहीं देखे जाते हैं।

यह सच है कि भारत में धर्मनिरपेक्षीकरण लगभग एक शताब्दी के पश्चिमीकरण का परिणाम है। यह प्रक्रिया अंग्रेज़ी शासन के जड़ जमाने के साथ शुरू हुई तथा यातायात और संचार के विकास के साथ इसने गति पकड़ी। हम पहले देख चुके हैं कि औद्योगीकरण और नगरीकरण ने स्थानिक गतिशीलता को बढ़ाया। लोग ग्रामीण से नगरीय इलाकों में तथा कस्बों से नगरों की ओर भारी संख्या में आए। शिक्षा के प्रचार-प्रसार ने मूल्यों की प्राथमिकता को बदला जिसने धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया।

परंतु धर्मनिरपेक्षीकरण के क्षेत्र पर चर्चा करने से पहले यह बताना उचित होगा कि किस प्रकार संस्कृतिकरण और धर्मनिरपेक्षीकरण दोनों समकालीन भारत में साथ-साथ क्रियाशील हैं। इसके कारणों की व्याख्या करते हुए एम. एन. श्रीनिवास ने लिखा है – "दोनों में से धर्मनिरपेक्षीकरण अधिक सामान्य प्रक्रिया है जो सभी भारतीयों को प्रभावित करती है जबकि संस्कृतिकरण केवल हिंदुओं तथा आदिवासी समूहों को प्रभावित करती है। मोटे तौर पर यह कहना सत्य होगा कि धर्मनिरपेक्षीकरण नगरीय तथा शिक्षित समूहों में और संस्कृतिकरण निम्न हिंदू जातियों तथा आदिवासियों में अधिक क्रियाशील है।"

ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन का धर्मनिरपेक्षीकरण सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिदृश्य में आए परिवर्तनों के कारण अधिक तीव्र हुआ। स्वतंत्रता के लिए संघर्ष में, विशेषकर गांधी युग में, कई ऐसी ताकतों को बल मिला जिन्होंने धर्मनिरपेक्षीकरण को आगे बढ़ाया। महात्मा गांधी द्वारा प्रारंभ किए गए सविनय अवज्ञा आंदोलन ने जनशक्ति को संगठित किया। इसी प्रकार हिंदू समाज में प्रचलित अस्पृश्यता जैसी सामाजिक

कुरीतियों के विरुद्ध जनता को प्रेरित करने से धर्मनिरपेक्षीकरण को बल मिला।

सन 1947 में स्वतंत्रता मिलने और सन 1950 में गणतंत्रीय संविधान को स्वीकार किए जाने के साथ इस प्रक्रिया ने और ज़ोर पकड़ा। भारत एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र के रूप में उभरा। स्वतंत्र भारत में स्वीकृत संविधान धर्म की स्वतंत्रता की गारंटी देता है। यह घोषणा करता है कि धर्म के आधार पर रोज़गार तथा शिक्षा में कोई भेदभाव नहीं होगा। वयस्क मताधिकार तथा कानून के आगे सभी नागरिकों की समानता को अपनाए जाने से भारतीय राज्य के धर्मनिरपेक्ष चरित्र को मान्यता मिली।

अब हम भारतीय सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन के धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया पर विचार करेंगे। धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया ने वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन के हर पहलू को प्रभावित किया है। कुछ परिवर्तन स्पष्ट हैं जबकि कुछ प्रच्छन्न हैं। उसके प्रभावों को समान रूप से महसूस नहीं किया जाता। उदाहरण के तौर पर, सामान्यत: ग्रामीण जनता की तुलना मे नगरीय जनता इससे अधिक प्रभावित हुई है। अशिक्षितों की तुलना में शिक्षित वर्ग के लोग गहराई तक प्रभावित हुए हैं। इसी प्रकार, देश के कुछ क्षेत्र दूसरों की तुलना में धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया से अधिक रू-ब-रू हुए हैं।

धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया से अपवित्रता तथा पवित्रता के विचार पर सबसे अधिक असर पड़ा है। आप इस तथ्य से अवगत हैं कि पवित्रता और अपवित्रता के विचार सामान्य जनमानस में तथा विशेष रूप से हिंदुओं की मानसिकता में केंद्रीय स्थान रखते हैं। पवित्रता तथा अपवित्रता की अवधारणा जाति के संस्तरण को निर्धारित करती है। यह विभिन्न जातियों के बीच की सामाजिक दूरी को परिभाषित करती है। कुछ जातियों को उच्च समझा जाता है तथा कुछ को निम्न क्योंकि कुछ जातियों को पवित्र तथा कुछ को तुलनात्मक रूप से अपवित्र समझा जाता है। यह धारणा केवल जाति के श्रेष्ठता-क्रम की संरचना में ही नहीं बल्कि भोजन, व्यवसाय, जीवन-शैली तथा दिनचर्या में भी दिखाई देती है। मांसाहार तथा मद्यपान को अपवित्र समझा जाता है, जबकि शाकाहार तथा मद्यनिषेध को पवित्र माना जाता है। इसी प्रकार का भेद व्यवसायों में भी किया जाता है। शारीरिक श्रम के व्यवसायों को निम्न समझा जाता है जबकि दूसरे व्यवसायों, जिनमें शारीरिक श्रम नहीं है, को उच्च समझा जाता है। पवित्रता तथा अपवित्रता की अवधारणा की सर्वाधिक अभिव्यक्ति जाति व्यवस्था के अंतर्गत अमानवीय अस्पृश्यता की प्रथा में मिलती है।

धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया ने पवित्रता तथा अपवित्रता की अवधारणा को काफी कमज़ोर किया है। लोग अब बस और ट्रेनों में सहयात्रियों की जातिगत पृष्ठभूमि को जानने का प्रयास नहीं करते। रेस्तराओं और होटलों में जाने पर वे शायद ही इसको लेकर परेशान होते हों। कार्य स्थलों पर, विशेषकर नगरीय वातावरण में, अपवित्रता के नियमों का पालन नहीं होता। जीवन पर जाति तथा धर्म के प्रभाव की तुलना में पेशे तथा व्यवसाय का अधिक प्रभाव रहता है। यहां इस तथ्य पर ज़ोर दिया गया है कि जीवन और संस्कृति पर धर्मनिरपेक्षीकरण के बढ़ते प्रभाव के कारण जाति और धर्म के रूढ़िवादी तत्त्व धीरे-धीरे अपनी प्रतिष्ठा खो रहे हैं। बढ़ते धर्मनिरपेक्षीकरण तथा गतिशीलता के कारण जाति व्यवस्था उन मूल्यों को कायम नहीं रख पा रही है जिन्हें पहले आवश्यक समझा जाता था।

यहां यह बताना महत्त्वपूर्ण है कि जहां जाति व्यवस्था से संबंधित धार्मिक मूल्य लुप्त होते जा रहे हैं, वहीं राजनीति जैसे धर्मनिरपेक्ष क्षेत्रों में उनकी भूमिका बढ़ती जा रही है। अब लोगों को राजनीतिक

कारणों से जाति के आधार पर संगठित किया जा रहा है। यह एक दिलचस्प समाजशास्त्रीय प्रश्न है जिसकी जांच आवश्यक है, परंतु यहां यह हमारे विषय से परे है।

दो अन्य क्षेत्र भी धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया से प्रभावित हुए हैं। वे हैं – पारिवारिक व्यवस्था तथा ग्रामीण समुदाय। जहां परिवार के क्रमिक संरचनात्मक बदलाव से अंतर्वैयक्तिक संबंधों में परिवर्तन आता है, वहीं पारिवारिक जीवन के दूसरे पक्ष भी समान रूप से प्रभावित होते हैं। परिवार में पालन की जाने वाली विभिन्न रस्मों तथा उत्सवों जैसे – विवाह की रस्में, अंतिम संस्कार की रस्में, पारिवारिक देवताओं की पूजा इत्यादि का रूप बदल रहा है। उनमें परिवार की सुविधा के अनुसार काट-छांट की जा रही है। इनमें से कुछ समारोहों का उपयोग वैभव-प्रदर्शन के अवसर के रूप में किया जाता है। विवाह के समय के ताम-झाम का धार्मिक संस्कारों से कुछ भी लेना-देना नहीं है, जिनका पहले विवाह के समय पालन किया जाता था। इसी प्रकार सामुदायिक उत्सवों ने नया अर्थ एवं रूप ग्रहण कर लिया है। पंजाब में बैसाखी को धार्मिक के बजाय सांस्कृतिक उत्सव के रूप में मनाया जाता है। विभिन्न धार्मिक समूहों के लोग उसके उल्लास में सम्मिलित होकर आनंदित होते हैं। दुर्गापूजा तथा दशहरा को नई पहचान मिली है और उसके धार्मिक संस्कार पृष्ठभूमि में चले गए हैं। सैकड़ों पंडालों को कलात्मक ढंग से सजाया जाता है जिनमें विभिन्न समसामयिक, सामाजिक और राजनीतिक मुद्दों को प्रदर्शित किया जाता है। हाल के वर्षों में रमज़ान के पवित्र महीने में इफ्तारी पार्टी का आयोजन इसी दिशा की ओर संकेत करता है।

आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में होने वाले परिवर्तनों से भी ग्रामीण समुदाय प्रभावित होता है। आर्थिक शक्तियों द्वारा किए गए आंतरिक अलगाव ने ग्रामीण जनता की सौहार्द्रपूर्ण सामुदायिक भावना को सतर्क कर दिया है। सरकार द्वारा उठाए गए विकास के विभिन्न कदमों के कारण आकांक्षाओं के स्तर में भी वृद्धि हुई है। भाग्य और दैवी इच्छा के आगे समर्पण करने की प्रवृत्ति, जो सामान्यतः निर्धन और पिछड़े वर्गों में पाई जाती थी, उसका स्थान जुझारूपन ने ले लिया है। ये धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया के ही परिणाम हैं।

शब्दावली

द्विज जाति : वे उच्च जातियां जो दीक्षा लेती हैं या यज्ञोपवीत धारण करती हैं, द्विज जातियां कहलाती हैं।

पर-संस्कृतिकरण : जब एक प्रभावी समूह अपनी संस्कृति का प्रभाव अधीनस्थ समूह पर इस प्रकार डालता है कि अधीनस्थ समूह का अस्तित्व प्रभावी समूह की संस्कृति में घुल-मिल जाता है तो वह प्रक्रिया पर-संस्कृतिकरण कहलाती है।

दीन-ए-इलाही : यह मुगल शासक अकबर द्वारा प्रारंभ किया गया एक धर्म था जिसमें विभिन्न धर्मों का संश्लेषण किया गया था।

रैयतवाड़ी एवं महलवाड़ी : यह भू-राजस्व की व्यवस्था थी जिसे ब्रिटिश सरकार ने चलाया था। इनके अंतर्गत किसानों को अपनी भूमि के लिए ज़मींदारों को राजस्व-कर देना पड़ता था।

अभ्यास प्रश्न

1. संस्कृतिकरण से आप क्या समझते हैं ?
2. भारतीय समाज में प्रभु जातियों का अर्थ क्या होता है ?
3. संस्कृतिकरण की प्रक्रिया की व्याख्या कीजिए।
4. भारत में इस्लामीकरण के सकारात्मक एवं नकारात्मक प्रभावों की चर्चा कीजिए।
5. भारत में पश्चिमीकरण के प्रभावों की व्याख्या कीजिए ।
6. धर्मनिरपेक्षता (पंथनिरपेक्षता) से आप क्या समझते हैं ?

संदर्भ-ग्रंथ

- श्रीनिवास, एम. एन. ***सोशल चेंज इन मॉडर्न इंडिया***, ओरएंट लौंगमेन, नई दिल्ली, 1972
- श्रीनिवास, एम. एन., द ***डोमिनेंट कास्ट एंड अदर एसेज***, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1987
- देसाई, ए. आर., ***इंडियाज पाथ ऑफ डेवलपमेंट***, पापुलर प्रकाशन, मुंबई, 1984
- बेतई, आंद्रे, ***कास्ट : ओल्ड एंड न्यू***, एशिया पब्लिशिंग हाउस, मुंबई, 1969
- सिंह, योगेंद्र, ***मॉर्डनाइज़ेशन ऑफ इंडियन ट्रेडीशन***, रावत पब्लिकेशंस, जयपुर, 1988

अध्याय 3

राज्य और सामाजिक परिवर्तन

सामाजिक परिवर्तन में राज्य की भूमिका का विश्लेषण करने से पूर्व यह आवश्यक है कि विषय को पूरी तरह समझने के लिए राज्य की अवधारणा को स्पष्ट कर लें। पारंपरिक परिभाषा के अनुसार राज्य बाह्य नियंत्रण से मुक्त निश्चित भू-भाग में निवास करने वाले लोगों का ऐसा समुदाय है जिसकी एक संगठित सरकार हो। राज्य के मुख्य आवश्यक तत्त्व–जनसंख्या, निश्चित भू-भाग, प्रभुसत्ता और सरकार इसमें समाहित हैं। राज्य एक ऐसी सामाजिक संस्था के रूप में भी जाना जाता है जो शक्ति प्रयोग पर अधिकार रखती है। वह अपने नागरिकों पर नियंत्रण करने का अधिकार भी रखता है। दूसरी असंख्य सामाजिक संस्थाओं की तरह राज्य के निश्चित कार्य होते हैं। यह कानून व्यवस्था को नियंत्रित करता है तथा न्यायिक व्यवस्था के माध्यम से तमाम विवादों का निपटारा भी करता है। लोक-कल्याण इसके क्रिया-कलापों का दूसरा पहलू है।

परंतु यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि राज्य और सरकार एक ही नहीं है। एक सामाजिक संस्था के रूप में विविध कार्यो के संपादन के लिए राज्य का निश्चित रूप एवं कार्य विधि होती है। उदाहरण के तौर पर, सरकार का संसदीय शासन के विविध कार्यों को करने का एक तरीका है। इस प्रकार सरकार लोगों का ऐसा समूह है जो एक निश्चित समय में राज्य में सत्ता के पदों को धारण करते हैं। इस अर्थ में सरकारें आती-जाती रहती हैं परंतु राज्य स्थिर रहता है।

सामाजिक-आर्थिक सुधारों में राज्य की भूमिका के संदर्भ में कल्याणकारी राज्य की अवधारणा बहुत महत्त्वपूर्ण है। कल्याणकारी राज्य वह व्यवस्था है जिसमें सरकार अपने नागरिकों के कल्याण की जिम्मेदारी प्राथमिक रूप से स्वीकार करती है। राज्य यह निश्चित करता है कि लोगों के पास भोजन, मकान, स्वास्थ्य सुविधाएं, शिक्षा, रोज़गार जैसी सुविधाएं पर्याप्त मात्रा में हैं। अत: राज्य की कल्याणकारी भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं। अपने सभी नागरिकों के लाभ के लिए राज्य को विविध योजनाओं एवं कार्यक्रमों को स्वीकार करना पड़ता है।

हमारा लोकतंत्र विश्व में सबसे बड़ा है। हमने आज़ादी के पश्चात गणतंत्रीय संविधान एवं संसदीय शासन प्रणाली को स्वीकार किया। हम लोगों ने अपने सभी नागरिकों के लिए न्याय, स्वतंत्रता, समानता तथा भाईचारे को प्राप्त करने का भी निश्चय किया है।

आने वाले खंडों में हम भारत में राज्य की भूमिका का निर्धारण आज़ादी के पश्चात उसके द्वारा किए गए कार्यो में आए परिवर्तनों के मूल्यांकन से करेंगे।

संवैधानिक प्रावधान

भारत एक प्रभुसत्ता संपन्न, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक, संसदीय शासन तंत्र युक्त गणराज्य है।

यह गणराज्य संविधान द्वारा शासित है जिसे संविधान सभा द्वारा 26 नवंबर 1949 में स्वीकार किया गया तथा जो 26 जनवरी 1950 को लागू हुआ। भारत के संविधान को विश्व के सबसे बड़े लिखित संविधान होने का गौरव प्राप्त है। यह केंद्र एवं राज्य की सरकारों के सहज लोकतंत्रीय कार्य संपादन के लिए व्यवस्था को ही धारण नहीं करता बल्कि नागरिकों की स्वतंत्रता एवं समानता को भी सुरक्षित करता है। इसके अंतर्गत ऐसे प्रावधान हैं जो लोगों के सर्वांगीण विकास के लिए अवसर प्रदान करते हैं। इस अर्थ में संविधान सामाजिक परिवर्तन का एक प्रमुख माध्यम है। यहां कुछ संवैधानिक प्रावधानों के बारे में विस्तार से विवेचन किया गया है।

मौलिक अधिकार

भारतीय संविधान ने सभी नागरिकों को कुछ मूलभूत अधिकार प्रदान किए हैं। वे मौलिक अधिकार के रूप में जाने जाते हैं। वे मूलभूत इसलिए हैं कि वे सभ्य मानव के अस्तित्व के लिए आवश्यक हैं। हमारे संविधान के संदर्भ में वे मौलिक अधिकार इसलिए कहे जाते हैं कि वे लिखित संविधान द्वारा सुरक्षित हैं तथा संवैधानिक संशोधन के बिना उसमें बदलाव नहीं किया जा सकता।

मौलिक अधिकारों की 6 श्रेणियां होती हैं। संविधान के तीसरे भाग के अनुच्छेद 12 से 35 में इनका उल्लेख किया गया है। ये हैं –

1. **समता का अधिकार** : इन प्रावधानों के अंतर्गत न्याय के समक्ष राज्य किसी व्यक्ति के साथ भेदभाव नहीं करेगा। यह राज्य को धर्म, जाति, नस्ल, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर भेदभाव करने से भी रोकता है। यह रोजगार के अवसर प्रदान करने में समानता का निर्वाह करता है। 17 वें अनुच्छेद में किसी भी तरह से छुआछूत पर रोक लगाई गई है।

2. **स्वतंत्रता का अधिकार** : इस अधिकार के अंतर्गत निम्नलिखित अधिकार आते हैं – (क) बोलने एवं अभिव्यक्ति का अधिकार, (ख) बिना हथियार शांतिपूर्वक सभा करने का अधिकार, (ग) संघ एवं संस्था के संगठन का अधिकार, (घ) पूरे भारत में स्वतंत्रतापूर्वक घूमने-फिरने का अधिकार, (ङ) देश के किसी भी हिस्से में रहने एवं बसने का अधिकार और (च) किसी तरह के पेशे, व्यवसाय उद्योग या व्यापार को अपनाने का अधिकार।

3. **शोषण के विरुद्ध अधिकार** : यह सभी प्रकार की बंधुआ मजदूरी, बाल मजदूरी तथा मानव के अवैध व्यापार को रोकता है।

4. **धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार** : हर व्यक्ति को किसी भी धर्म को स्वीकार करने, उसके अनुसार आचरण करने तथा उसे प्रचारित करने का अधिकार है। कोई भी व्यक्ति किसी विशेष धर्म के आयोजनों के लिए कर देने को बाध्य नहीं होगा। इसके अनुसार राज्य द्वारा संचालित शिक्षण संस्थानों में धार्मिक शिक्षण के लिए किसी भी व्यक्ति को अनुमति नहीं होगी।

5. **सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक अधिकार** : नागरिकों के हर वर्ग को अपनी विशिष्ट संस्कृति, भाषा तथा लिपि की रक्षा का अधिकार होगा। इसके अतिरिक्त धार्मिक अथवा भाषिक रूप से अल्पसंख्यकों को अपनी पसंद की शैक्षणिक संस्था को स्थापित करने तथा उसकी व्यवस्था करने का अधिकार होगा।

6. **संवैधानिक उपचारों का अधिकार** : इसके अंतर्गत सभी नागरिकों को अपने मूल अधिकारों के क्रियान्वयन के लिए न्याय पाने का अधिकार है।

राज्य के नीति-निदेशक तत्त्व

संविधान ने राज्य की नीतियों के लिए नीति-निदेशक तत्त्वों का प्रावधान किया है। मूल अधिकारों की ही

तरह, नीति-निदेशक तत्त्वों की अवधारणा हमारे स्वतंत्रता आंदोलन के केंद्र में समाहित है। स्वतंत्रता संग्राम के नेताओं ने सिर्फ राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए ही संघर्ष नहीं किया था, बल्कि जीवन की समस्याओं से जूझ रहे लाखों लोगों के सामाजिक एवं आर्थिक उत्थान के लिए भी संघर्ष किया था। आज़ादी के पश्चात राज्यों द्वारा बनाए जाने वाली योजनाओं एवं कार्यों को दिशा-निर्देश देने के लिए संविधान में इन निदेशक तत्त्वों का समावेश किया गया है। संविधान के चौथे भाग के अनुच्छेद 36 से लेकर 51 तक में इनका वर्णन किया गया है। नीति-निदेशक तत्त्वों का महत्त्वपूर्ण पक्ष इसमें निहित है कि, ''राज्य लोगों के कल्याण को बढ़ावा देने के लिए एक ऐसे सामाजिक ढांचे को प्रभावी ढंग से सुदृढ़ करेगा जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को संपोषित करेगा।" इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए राज्य – (क) सभी नागरिकों के लिए आजीविका के उपयुक्त स्रोत निश्चित करेगा। (ख) लोगों के हित के लिए संपत्ति का उचित नियंत्रण एवं वितरण करेगा। (ग) समान कार्य के लिए समान वेतन सुनिश्चित करेगा। (घ) आर्थिक उन्नति के द्वारा सभी के लिए स्वास्थ्य सुविधाओं की व्यवस्था करेगा तथा (ङ) बाल-मज़दूरी पर रोकथाम करेगा।

राज्य से अन्य सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक कार्यक्रम सुनिश्चित करने के लिए समुचित कदम उठाने की अपेक्षा की जाती है। कुछ अन्य कार्यक्रमों के अंतर्गत–(क) ग्राम पंचायत की व्यवस्था, (ख) काम करने एवं शिक्षा का अधिकार, (ग) नागरिकों के लिए समान आचार संहिता, (घ) मुफ्त एवं अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था (ङ) अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा अन्य कमज़ोर वर्गों के शैक्षणिक तथा आर्थिक हितों की रक्षा और (च) न्यायपालिका तथा कार्यपालिका को अलग रखना इत्यादि कार्य आते हैं।

परंतु यहां पर यह ध्यान देना आवश्यक है कि मौलिक अधिकारों एवं राज्य के नीति निदेशक तत्त्वों में एक मूलभूत अंतर है। मौलिक अधिकारों में होने वाले किसी भी हस्तक्षेप को न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है, परंतु नीति-निदेशक तत्त्वों के संदर्भ में ऐसा नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में, यदि किसी नागरिक के मौलिक अधिकारों में कटौती होती है तो वह न्यायालय में न्याय की मांग कर सकता है। परंतु यदि राज्य नीति-निदेशक तत्त्वों के तहत किसी योजना को कार्यान्वित नहीं करता है तो इसके क्रियान्वयन के लिए न्यायालय में नहीं जाया जा सकता। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि इन नीति-निदेशक तत्त्वों का कोई महत्त्व नहीं है। संविधान स्पष्टतः कहता है कि नीति-निदेशक तत्त्व ''देश के शासन में आधारभूत हैं तथा यह राज्य का कर्तव्य होगा कि वह कानूनों के निर्माण में इनका ध्यान रखे।''

मौलिक कर्तव्य

भारतीय संविधान ने नागरिकों के मौलिक कर्तव्यों का भी निर्धारण किया है। सन 1976 में स्वीकृत बयालिसवें संशोधन में अनुच्छेद 51 को संविधान के अध्याय चतुर्थ क में समाहित किया गया है। इसके अनुसार भारत के प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य होगा –

(क) संविधान का पालन करना।

(ख) राष्ट्र के स्वतंत्रता आंदोलन के पीछे विद्यमान भावनाओं का सम्मान तथा अनुसरण करना।

(ग) देश की प्रभुसत्ता और अखंडता को बनाए रखना एवं उसकी रक्षा करना।

(घ) राष्ट्र की रक्षा करना एवं राष्ट्र के लिए अपनी सेवा प्रदान करना।

(ङ) धर्म, भाषा और क्षेत्र अथवा वर्ग की विभिन्नता को भुलाकर भारत के नागरिकों के बीच सद्भाव एवं आपसी भाईचारे का विकास करना तथा महिलाओं के सम्मान को ठेस पहुंचाने वाले किसी कार्य को न करना।

(च) हमारी मिली-जुली संस्कृति की समृद्ध परंपरा को सुरक्षित रखना।

(छ) पर्यावरण की सुरक्षा करना।

(ज) वैज्ञानिक प्रकृति को विकसित करना।

(झ) सार्वजनिक संपत्ति की सुरक्षा करना, हिंसा से दूर रहना।

(ञ) निजी तथा सामूहिक कार्य-कलापों में उत्कृष्टता के लिए प्रयास करना।

अब तक हमने भारतीय संविधान के कुछ ऐसे प्रावधानों पर विचार किया जो सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करते हैं। संविधान में पिछड़े एवं कमज़ोर वर्गों के लोगों; जैसे – महिलाओं एवं बच्चों, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़े वर्गों तथा अल्पसंख्यकों के लिए कुछ विशेष प्रावधान निहित हैं। ये विशेष प्रावधान संविधान की उपर्युक्त मूल अवधारणाओं से ही निकले हैं। अब हम संविधान के इन विशेष प्रावधानों के बारे में विश्लेषण करेंगे –

महिलाएं : भारतीय संविधान अपने चौदहवें अनुच्छेद में जहां देश की सभी महिलाओं तथा पुरुषों को राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्र में समान अधिकार एवं अवसर प्रदान करता है वहीं पंद्रहवें अनुच्छेद में लिंग के आधार पर व्यक्ति के साथ भेदभाव पर रोक लगाता है। अनुच्छेद 15 (3) राज्य को महिलाओं के हित के लिए अलग से नियम बनाने का अधिकार प्रदान करता है। इसी तरह से, 39 वां अनुच्छेद आजीविका के समान अवसर तथा समान काम के लिए समान वेतन देने का निर्देश राज्यों को देता है। अनुच्छेद 42 राज्यों को काम करने के योग्य उपयुक्त एवं मानवीय परिस्थितियों को सुनिश्चित करने तथा प्रसूति-सुविधाएं प्रदान करने का निर्देश भी देता है। इसी तरह, अनुच्छेद 51 क प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य निर्धारित करता है कि वे किसी भी ऐसे कार्य से दूर रहें जो महिलाओं के सम्मान को ठेस पहुंचाता हो।

बच्चे : यह महसूस करते हुए कि बच्चों के पास अपनी आवाज़ उठाने का न तो कोई माध्यम है और न ही उनके पास कोई राजनीतिक शक्ति है, भारतीय संविधान ने उनके लिए कई विशेष सुरक्षा प्रावधानों की व्यवस्था की है। अनुच्छेद 15(3) राज्यों को महिलाओं की तरह, बच्चों के हित के लिए भी नियम बनाने का अधिकार देता है। अनुच्छेद 24 किसी कारखाने, खदान अथवा दूसरे खतरनाक व्यवसायों में 14 वर्ष से कम उम्र के बच्चों से कार्य करवाने का निषेध करता है और अनुच्छेद 45 चौदह वर्ष की उम्र तक के सभी बच्चों के लिए मुफ्त एवं अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करता है।

अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और अन्य पिछड़े वर्ग : हम पहले ही देख चुके हैं कि हमारे संविधान निर्माताओं में देश के सभी नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक समानता प्रदान करने की आकांक्षा थी। परंतु, यह महसूस किया गया कि इस महत् उद्देश्य को तब तक प्राप्त नहीं किया जा सकता जब तक सदियों से शोषित एवं पूर्वाग्रह के शिकार वंचित लोगों के जीवन स्तर को सुधारने के लिए विशेष प्रयास नहीं किए जाते। इसलिए संविधान में उन लोगों की आर्थिक, शैक्षिक तथा सामाजिक उन्नति के लिए अलग से व्यवस्था की गई।

इस पृष्ठभूमि में संविधान के तहत पिछड़े वर्गों को दो तरह से आरक्षण उपलब्ध हैं, वे हैं – (क) लोक सभा, विधान सभा तथा पंचायती राज निकायों में स्थानों का आरक्षण (ख) सरकारी नौकरियों

में आरक्षण। जहां अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों के लिए लोक सभा, विधान सभा तथा पंचायती राज के निकायों में स्थान आरक्षित हैं, वहीं अन्य पिछड़े वर्गों को केवल पंचायती राज निकायों में ही आरक्षण की सुविधा मिलती है। दूसरे प्रकार के आरक्षण की सुविधाएं तीनों श्रेणी के लोगों को मिलती हैं।

इसके अतिरिक्त संविधान की छठी धारा के अनुच्छेद 244 (2) के अंतर्गत असम, मेघालय, मिज़ोरम तथा त्रिपुरा के आदिवासी क्षेत्रों के लिए विशेष प्रावधान रखे गए हैं।

अल्पसंख्यकों के लिए संवैधानिक सुरक्षा के उपाय

भारतीय संविधान के अंतर्गत धार्मिक तथा भाषाई अल्पसंख्यकों के लिए कुछ सुरक्षा सुविधाओं का प्रावधान किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 29 और 30 अल्पसंख्यकों की सुरक्षा की बात करते हैं। यह अल्पसंख्यकों के अपनी भाषा, लिपि या संस्कृति की सुरक्षा के अधिकार को मान्यता प्रदान करते हैं। वे अपनी पसंद के शैक्षणिक संस्थानों की स्थापना तथा उसका संचालन कर सकते हैं।

अनुच्छेद 350 (क) भाषिक अल्पसंख्यकों के बच्चों को प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा में शिक्षा प्रदान करने की सुविधा देता है। अनुच्छेद 350 (ख) भाषाई अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा से संबंधित मामलों की जांच पड़ताल के लिए विशेष अधिकारों की व्यवस्था करता है।

ऊपर के विवरणों से यह स्पष्ट है कि भारतीय संविधान के प्रावधान बहुत व्यापक एवं विस्तृत हैं। इसमें एक ऐसी मज़बूत लोकतंत्रीय राज्य व्यवस्था का निर्माण किया गया है जिसके तहत देश के सभी नागरिकों के लिए समानता और न्याय प्राप्त किया जा सके। इस तरह से संविधान के द्वारा प्रभावी सामाजिक परिवर्तन के नए दौर के लिए उपयुक्त वातावरण का निर्माण किया गया। इसने सिर्फ परिवर्तन के नियामक की तरह ही कार्य नहीं किया बल्कि आर्थिक एवं सामाजिक विकास को प्रोत्साहित किया और उसे आगे बढ़ाया। इसके अतिरिक्त इसने योजनाओं की नीति को भी परिभाषित एवं निर्देशित किया। बाद में इसे स्वीकार कर पूरे देश में लागू किया गया। देश के सामाजिक-आर्थिक सुधारों के लिए संशोधन की प्रक्रिया के द्वारा संविधान एक प्रेरक बल की तरह कार्य करता है। संविधान के कई संशोधन समाज के लगभग सभी क्रिया-कलापों को निर्देशित, नियंत्रित एवं नियमित करते हैं। सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया जो भारतीय समाज के सामाजिक-आर्थिक रूपांतरण को आगे बढ़ाती है, इन अध्यादेशों द्वारा तीव्र हो गई। इनमें से कुछ अध्यादेशों ने भारतीय लोगों की जीवन शैली को प्रभावित किया।

योजना और सामाजिक परिवर्तन

योजनाएं समकालीन समाज में परिवर्तन का एक महत्त्वपूर्ण कारक हैं। यह कारक सामाजिक नीति में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप करता है तथा व्यवस्था शृंखला की निरंतरता को बनाए रखता है। यह सामाजिक उद्देश्यों को प्रतिबिंबित करता है तथा अपने अनुरूप सामाजिक विकास में सहायक होता है। इस प्रकार यह योजना ऐसी सामाजिक व्यवस्था की परिकल्पना करती है जो तार्किक एवं संतुलित चिंतन पर आधारित हो। स्वभावतः इस तरह की योजना सिर्फ लोकतंत्रीय कल्याणकारी राज्य में ही संभव है।

भारत में योजना

भारत में योजनाओं की शुरुआत आज़ादी के बाद हुई। भारत सरकार ने 1950 में प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में

देश के संसाधनों तथा आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए विकास के मानचित्र को तैयार करने के लिए योजना आयोग का गठन किया। योजना आयोग ने पंचवर्षीय योजनाओं को प्रारंभ किया, जो अभी भी चल रही हैं।

भारत में लोगों के जीवन स्तर को तीव्र गति से सुधारना विकास की नीति का एक घोषित उद्देश्य था। यह उचित पारिश्रमिक पर सभी को रोज़गार देने तथा संपत्ति एवं आय से उत्पन्न असमानता को दूर करने पर विचार करती है। सभी पंचवर्षीय योजनाएं इन सभी उद्देश्यों को एक साथ प्राप्त करने की आवश्यकता पर बल देती हैं। परंतु विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं ने तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अलग-अलग प्राथमिकताओं को स्वीकार किया।

योजनाओं का एक प्रमुख उद्देश्य रहा है उच्च विकास दर को प्राप्त करना। ऐसा सोचा गया कि इस उद्देश्य को अर्थव्यवस्था के सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र के सम्मिलित प्रयास से प्राप्त किया जा सकता है। सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्रों के साथ-साथ चलने के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था की पहचान मिश्रित अर्थव्यवस्था के रूप में की जाती है।

सार्वजनिक क्षेत्र राज्य के अंतर्गत आते हैं और भारी निवेश की आवश्यकता वाले क्षेत्रों में कार्य करते हैं। ये निवेश मूलत: बुनियादी एवं बड़े उद्योगों से संबंधित हैं। दूसरी ओर, निजी क्षेत्र सिर्फ संगठित उद्योगों से ही संबंधित नहीं होते बल्कि छोटे उद्योगों जैसे – कृषि, आवास एवं निर्माण से संबंधित कार्यों से भी संबंधित होते हैं। प्रमुख बैंक, बीमा कंपनियां, इस्पात-सयंत्र और भारी इंजीनियरिंग निगम, रेल, डाक-व्यवस्था सभी सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम हैं। टाटा, अंबानी, बिड़ला तथा सिंघानिया सार्वजनिक क्षेत्र के कुछ प्रमुख औद्योगिक घराने हैं।

यद्यपि आर्थिक योजना ने हाल ही में सार्वजनिक क्षेत्र में बढ़ोत्तरी दर्ज की है, फिर भी इसकी प्रक्रिया काफी धीमी है। कई सार्वजनिक क्षेत्रों के उपक्रमों में सार्वजनिक हिस्सेदारी में विनिवेश की प्रक्रिया पहले ही प्रारंभ हो चुकी है। अर्थव्यवस्था में निजीकरण की मुहिम धीरे-धीरे तेज़ हो रही है तथा इस मुद्दे पर बहस ज़ोरों पर है।

पंचवर्षीय योजनाएं

हम इसकी चर्चा पहले ही कर चुके हैं कि भारत में योजनाएं पंचवर्षीय योजनाओं के तहत क्रियान्वित होती रही हैं। अब तक नौ पंचवर्षीय योजनाएं पूरी हो चुकी हैं और दसवीं पंचवर्षीय योजना (2002-2007) 2002 में प्रारंभ हुई है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951-1956) की शुरुआत उस समय हुई थी जब देश 1947 के विभाजन के सदमे तथा द्वितीय विश्वयुद्ध से उत्पन्न कठिनाइयों से उबर रहा था। खाद्यान्नों की अतिशय कमी के कारण देश को 1951 में विदेशों से खाद्यान्नों का आयात करना पड़ा था। इस परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए इस योजना में ऊर्जा एवं सिंचाई के साथ कृषि क्षेत्र को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई। योजना के कुल बजट का लगभग 44.6 प्रतिशत धन कृषि पर खर्च किया गया। योजना के अंत में देश की राष्ट्रीय आय बढ़कर 18 प्रतिशत हो गई तथा प्रति व्यक्ति आय में 11 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (1956-1961) में कृषि के स्थान पर उद्योगों को प्राथमिकता दी गई। इसी योजना के दौरान आर्थिक नीति में एक नए उद्देश्य को समाहित किया गया। लोगों के बीच यह समाज के समाजवादी ढांचे के रूप में प्रचलित हुआ। इस नीति के अंतर्गत इस बात पर

ज़ोर दिया गया था कि योजनाबद्ध विकास का अधिक लाभ समाज के अपेक्षाकृत पिछड़े वर्गों को मिले। साथ ही संपत्ति एवं आय के एकत्रीकरण में क्रमश: कमी करने पर भी ध्यान दिया गया था। भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री एवं योजना आयोग के अध्यक्ष पंडित नेहरू ने 23 मई 1956 को लोकसभा में कहा – ''...... स्पष्ट रूप से अगर कहें ; तो जब हम साम्यवादी जीवन शैली कहते हैं तो इसका क्या आशय होता है ? हमारा आशय ऐसे समाज से होता है जहां अवसरों में समानता हो तथा हर व्यक्ति के लिए अच्छे जीवन की संभावना हो।''

तृतीय पंचवर्षीय योजना (1961-1966) का उद्देश्य स्व-संपोषित विकास के क्षेत्र को आगे बढ़ाना था। साथ ही साथ, इस योजना में कृषि एवं उद्योगों पर समान रूप से ध्यान दिया गया। खाद्यान्न के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता के साथ-साथ उद्योगों तथा निर्यात के लिए कृषि उत्पादों में बढ़ोत्तरी इसका प्रमुख उद्देश्य था। मूलभूत उद्योगों; जैसे–इस्पात, रसायन ईंधन तथा ऊर्जा इत्यादि के क्षेत्र में विस्तार करना भी इसका लक्ष्य था।

लेकिन तृतीय पंचवर्षीय योजना के परिणाम निराश करने वाले थे। राष्ट्रीय आय में 5 प्रतिशत बढ़ोतरी के लक्ष्य के स्थान पर सिर्फ 2.6 प्रतिशत की बढ़ोतरी हुई। कृषि क्षेत्र में भी उत्पादन में गिरावट आई। इस परिस्थिति ने तब और भी गंभीर मोड़ ले लिया जब मार्च 1966 में प्रारंभ होने वाली चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में विलंब हो गया और 1966 से 1969 की समयावधि को 'योजना अवकाश' का नाम दिया गया। परंतु इस अवधि ने उन गलतियों को सुधारने का मौका दिया जिसने पूरी योजना-प्रक्रिया को जर्जर बना दिया था।

योजना प्रक्रिया ने आर्थिक स्थिरता को ध्यान में रखते हुए पुन: अपनी शुरुआत चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (1969-74) के माध्यम से की। इसका उद्देश्य समता के साथ सामाजिक न्याय पाना था। कृषि तथा उद्योग दोनों क्षेत्रों के विकास को योजना में समान महत्त्व दिया गया था परंतु पुन: इस लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सका। न तो इसने खाद्यान्न के मामले में आत्म-निर्भरता के लक्ष्य को प्राप्त किया और न ही उपयुक्त मात्रा में रोज़गार के अवसर ही उपलब्ध हो सके। मुद्रास्फीति की दर नियंत्रण से बाहर हो गई।

इस तरह से पंचम पंचवर्षीय योजना (1974-79) का क्रियान्वयन उस समय हुआ जब अर्थव्यवस्था मुद्रास्फीति के भारी दबाव में थी। बढ़ते मूल्य के दबाव से लोगों में बेचैनी होने लगी। इसी तरह से गरीबी-उन्मूलन तथा आत्म-निर्भरता को योजना का मुख्य लक्ष्य निश्चित किया गया था। इसका उद्देश्य बड़ी संख्या में लोगों को गरीबी रेखा से ऊपर लाना था। मुद्रास्फीति को नियंत्रण में रखना भी इसकी सर्वोच्च प्राथमिकता थी।

परंतु राजनीतिक परिवर्तन ने इस योजना को 1979 के बजाय 1978 में ही समाप्त कर दिया और छठी पंचवर्षीय योजना रोलिंग प्लान के रूप में प्रारंभ हुई। इस तरह से छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85) को बनाते समय पिछले तीन दशकों की योजनाओं की उपलब्धियों एवं कमियों को ध्यान में रखा गया। गरीबी-उन्मूलन तो योजना का मुख्य उद्देश्य था ही, लेकिन आर्थिक विकास तथा बेरोज़गारी को दूर करने पर भी बहुत ज़ोर दिया गया था। इस योजना को पर्याप्त सफलता मिली। सरकारी आंकड़ों के अनुसार गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले लोगों की संख्या में सन 1977-78 के 48.3 प्रतिशत की तुलना में सन 1984-85 में 36.9 प्रतिशत तक की गिरावट आई थी।

सातवीं योजना (1985-90) में खाद्यान्नों के उत्पादन में तीव्र विकास, रोज़गार के अवसरों को बढ़ाने तथा उत्पादन में वृद्धि पर अधिक ज़ोर दिया गया। बेरोज़गारी को दूर करने के लिए जवाहर रोज़गार योजना जैसे कार्यक्रमों की शुरुआत हुई। इस योजना की समयावधि में सकल घरेलू उत्पाद में

औसत 5.8 प्रतिशत की बढ़ोतरी हुई जो अनुमानतः विकास दर से 0.8 प्रतिशत अधिक थी।

केंद्र सरकार में होने वाले राजनीतिक परिवर्तनों के कारण आठवीं पंचवर्षीय योजना (1990-95) समय से आरंभ नहीं हो सकी। इसलिए यह निर्णय लिया गया कि आठवीं पंचवर्षीय योजना 1 अप्रैल, 1992 से प्रारंभ होगी और वर्ष 1990-91 एवं 1991-92 को अलग से वार्षिक योजना के रूप में मानां जाएगा। इस प्रकार आठवीं पंचवर्षीय योजना (1992-97) की शुरुआत देश में होने वाले नए आर्थिक सुधारों के परिप्रेक्ष्य में हुई। योजना रोज़गार के नए अवसरों की खोज पर केंद्रित थी। छोटे उद्योगों में निवेश अधिक हुआ क्योंकि वे रोज़गार प्रदान करते थे। योजना का लक्ष्य 5.6 प्रतिशत की औसत वार्षिक विकास दर तथा लगभग 7.5 प्रतिशत की औसत औद्योगिक विकास दर को प्राप्त करना था। इस योजना की आर्थिक प्रगति उत्साहवर्धक थी तथा देश में आर्थिक विकास अधिक तेज़ गति से हुआ।

अभी हाल मे नौवीं पंचवर्षीय योजना (1997-2002) पूरी हुई है। इसकी शुरुआत भारत में आज़ादी के पचासवें वर्ष में हुई थी। नौवीं योजना के कुछ प्रमुख उद्देश्य थे- (1) उत्पादक रोज़गार में वृद्धि तथा गरीबी उन्मूलन हेतु कृषि एवं ग्रामीण विकास को प्राथमिकता देना, (2) आर्थिक विकास की दर को स्थिर मूल्यों द्वारा बढ़ाना, (3) सभी के लिए भोजन एवं पोषण सुनिश्चित करना, (4) सभी के लिए निश्चित समयावधि में पेयजल, प्राथमिक स्वास्थ्य सुविधाएं, प्राथमिक शिक्षा, मकान और संपर्क साधन जैसी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करना, (5) जनसंख्या के विकास की दर को नियंत्रित करना तथा (6) सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन एवं विकास के लिए महिलाओं एवं सामाजिक रूप से वंचित अन्य वर्गों; जैसे – अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़े वर्ग तथा अल्पसंख्यकों का सशक्तीकरण करना।

नौवीं योजना की औसत विकास दर सकल घरेलू उत्पाद की 6.5 प्रतिशत वार्षिक रखी गई जबकि मूल प्रस्ताव में 7 प्रतिशत की विकास दर अनुमोदित थी। विकास-दर में कटौती नौवीं योजना के प्रारंभिक दो वर्षों में होने वाली राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक परिस्थितियों के कारण की गई थी।

पिछले पचास वर्षों (1950-51 से 2000-2001 तक) में, जब से भारत को गणराज्य का दर्जा मिला था, राष्ट्रीय आय में 4.2 प्रतिशत औसत वार्षिक विकास की दर से 7.6 गुना की वृद्धि हुई। प्रति व्यक्ति आय 2.75 गुना बढ़कर रु. 3178 से रु. 10,654 (1993-94 के मूल्य के आधार पर) हो गई। यह 2.1 प्रतिशत की मिश्रित विकास दर दर्शाती है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि भारत में पंचवर्षीय योजनाओं ने पांच दशकों की लंबी दूरी पार की है और आज भी दिन-प्रतिदिन मज़बूत होती जा रही हैं। फिर भी इनका अनुभव अच्छा और बुरा दोनों प्रकार का रहा है। कृषि क्षेत्र में जहां इसे महत्त्वपूर्ण सफलता मिली है, रोज़गार के अवसरों को बढ़ाने में उतनी सफलता नहीं मिल सकी। प्रमुख क्षेत्रों के औद्योगिक विकास की दर जहां ठीक-ठाक रही, वहीं लघु उद्योगों को भारी झटका लगा। सामाजिक क्षेत्रों जैसे शिक्षा और स्वास्थ्य के असमान विकास को आम लोगों में भी महसूस किया जा रहा है। यद्यपि हम लोगों ने साक्षरता के क्षेत्र में बड़ी उपलब्धि प्राप्त की है, परंतु स्वास्थ्य के क्षेत्र में हम यह बात नहीं कह सकते। उदाहरण के तौर पर, महिलाओं की साक्षरता दर में विगत वर्षो में महत्त्वपूर्ण सुधार आया। यह सन 1991 में 39 प्रतिशत से बढ़कर सन 2001 में 54 प्रतिशत हो गई। परंतु आज भी भारत में 19 करोड़ 30 लाख महिलाएं निरक्षर हैं। महिलाओं को लेकर राष्ट्रीय नीति

'कल्याण' से 'विकास' और फिर उनके 'सशक्तीकरण' तक विकसित हो गई है।

महत्त्वपूर्ण उपलब्धि का एक दूसरा क्षेत्र समाज के उपेक्षित वर्गों के सशक्तीकरण तथा उन्हें सामाजिक न्याय प्रदान करने से संबंधित रहा है। आप जानते हैं कि अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़े वर्ग तथा अल्पसंख्यक भारत के प्रमुख पिछड़े वर्गों में हैं। इन वर्गों की पहचान लक्ष्य वर्गों के रूप में की गई है। उनके संपूर्ण विकास के लिए विशेष कार्य-योजनाएं बनाई गई हैं। उदाहरण के लिए, अनुसूचित जातियों के लिए बनाई गई विशेष योजना को इस प्रकार आरेखित किया गया कि पंचवर्षीय योजनाओं के सार्वजनिक उपक्रमों से मिलने वाले लाभ अनुसूचित जातियों के विकास के लिए प्रयुक्त हो सकें। इसी तरह से जनजातीय उप-योजना राज्य की योजनाओं के अंतर्गत आती है और आदिवासियों के कल्याण के लिए बनाई गई है। अल्पसंख्यकों के शैक्षणिक तथा आर्थिक विकास को मापने का कार्य भी शुरू किया गया है। मुसलमानों, ईसाइयों, सिक्खों, बौद्धों तथा ज़ोरास्ट्रियनों (पारसी) को राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग धारा 1992 के अंतर्गत अल्पसंख्यक के रूप में अधिसूचित किया गया है। अल्पसंख्यक समुदायों के योग्य लाभग्रहियों को वित्तीय अनुदान प्रदान करने के लिए राष्ट्रीय अल्पसंख्यक विकास एवं वित्तीय सहकारी संस्थाओं की स्थापना की गई ताकि वे अपना स्वयं का रोजगार शुरू कर सकें।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि विभिन्न तरीकों से राज्य के हस्तक्षेप ने लोगों के जीवन में दूरगामी परिवर्तन किए। ये परिवर्तन सिर्फ उनकी आर्थिक स्थिति में ही नहीं दिखाई दे रहे हैं, बल्कि उनके सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन में भी नज़र आ रहे हैं। लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था ने एक नई सामाजिक व्यवस्था का निर्माण किया है जो प्रस्थिति में असमानता एवं भेदभावपूर्ण व्यवहार को दूर करने के लिए प्रतिबद्ध है। इस प्रकार राज्य सामाजिक परिवर्तन के एक महत्त्वपूर्ण घटक के रूप में कार्य करता है।

शब्दावली

महिला सशक्तीकरण : जब महिलाएं अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होती हैं और उनके प्रति दृढ़ रहती हैं।

गैर-सरकारी क्षेत्र : अर्थव्यवस्था का वह भाग जिसमें उत्पादन प्रक्रियाएं गैर-सरकारी उद्यमों द्वारा चलाई जाती हैं। गैर-सरकारी उद्यम एक व्यक्ति या व्यक्तियों के समूहों द्वारा अधिकारित एवं चलाए जाते हैं।

निजी क्षेत्र : वह आर्थिक क्षेत्र जहां उत्पादन की गतिविधियां निजी उद्यमियों द्वारा चलाई जाती हैं। एक निजी उद्यम व्यक्ति या व्यवितयों के समूहों के अधिकार में होता है।

लोक क्षेत्र : इसमें केंद्रीय, राज्य एवं स्थानीय सरकारें सम्मिलित होती हैं और सभी उद्यम उनके द्वारा अधिकृत होते हैं और चलाए जाते हैं।

निजीकरण : सामान्यतः सरकारी उद्यम व्यक्ति या व्यक्तियों के समूहों को बेचे जाते हैं, अथवा चलाने के लिए दिए जाते हैं। यह प्रक्रिया निजीकरण कहलाती है।

उदारीकरण : इसमें दो चीजें शामिल की जाती हैं – (अ) निजी उद्यमियों को उन उद्यमों को चलाने की अनुमति दी जाती है जो पहले सरकार के अधिकार में थे, (ब) निजी उद्यमों के लिए बनाए गए नियमों में ढील दी जाती है। इसमें विदेशी उद्यमों को भी चलाने की अनुमति दी जाती है।

अभ्यास प्रश्न

1. कल्याणकारी राज्य क्या होता है?
2. मूलभूत अधिकारों के बारे में बताइए एवं उनकी सूची बनाइए।
3. हमारी राज्य नीति के दिशा निर्देशकों पर प्रकाश डालिए।
4. किन्हीं पांच मूलभूत कर्तव्यों की सूची बनाइए।
5. भारत में योजनाओं के महत्त्व की व्याख्या कीजिए।
6. महिलाओं एवं बच्चों के लिए क्या संवैधानिक प्रावधान हैं ?
7. भारत की नौवीं पंचवर्षीय योजना के उद्देश्य बताइए।
8. भारत में पंचवर्षीय योजनाओं की उपलब्धियों की समालोचना कीजिए।

संदर्भ-ग्रंथ

- दुबे, एस. सी. (सं.), *इंडिया सिंस इनडिपैन्डेंस: सोशल रिपोर्ट ऑन इंडिया 1947–1972*, विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1977
- देसाई, ए. आर., ***स्टेट एंड सोसायटी इन इंडिया : ऐसेज़ इन डिसैंट,*** पॉपुलर प्रकाशन, मुंबई, 1975
- कोठारी, रजनी, ***पॉलिटिक्स इन इंडिया,*** ओरिएंट लौंगमैन, नई दिल्ली, 1970
- उम्मन, टी. के., (सं.), ***सिटिज़नशिप एंड नेशनल आइडेंटिटी : फ्राम कोलोनॉइज़ेशन टू ग्लोबलॉइज़ेशन,*** सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 1997
- महाजन, गुरप्रीत (सं.), ***डैमोक्रेसी, डिफरेंस एंड सोशल जस्टिस,*** ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1998

अध्याय 4

विधान तथा लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण

विधि तथा विधान की व्याख्या

विधि तथा सामाजिक परिवर्तन के बीच अन्योन्याश्रित संबंध है। विधि सामाजिक परिवर्तन का कारण और परिणाम दोनों है। इस अध्याय में हम विधि को सामाजिक परिवर्तन के नियामक के रूप में देखेंगे।

व्यापक रूप में विधि के अंतर्गत समाज के लिए आवश्यक नियमों के कार्यान्वयन की पद्धतियां आती हैं। इस अर्थ में इसमें वे प्रथाएं तथा नियम आते हैं जिन पर नज़र रखना आवश्यक है तथा जो मान्यता प्राप्त सत्ता द्वारा लागू की जाती है। तथापि समाजशास्त्रीय उद्देश्य से विधि शब्द को औपचारिक रूप से पारित और अभिलेखित किए गए नियमों तक सीमित रखना उचित होगा। यद्यपि समाज में पाए जाने वाले कानूनों और नियमों के बीच कोई निश्चित विभाजक रेखा नहीं है, परंतु इनमें विभेद आवश्यक है। इस चर्चा में हम विधि का तात्पर्य वैध सत्ता द्वारा स्वीकृत कार्य नियमों के अर्थ में करेंगे।

विधि का निर्माण विधान-मंडल द्वारा किया जाता है। वे हमेशा एक निश्चित स्वरूप में लिखित तथा अभिलेखित होती हैं। न्यायालयों द्वारा उनकी व्याख्या की जाती है तथा प्रशासनिक संस्थाओं जैसे पुलिस इत्यादि के द्वारा उन्हें क्रियान्वित किया जाता है। उदाहरण के लिए, चोरी अथवा डकैती के लिए दंड की प्रकृति तथा उसे देने की प्रक्रिया इत्यादि सभी बातों का उल्लेख कानून की किताबों में है।

व्यापक रूप से यदि कहें तो कानून दो प्रकार के होते हैं—फौजदारी कानून तथा दीवानी कानून। फौजदारी कानून चोरी, हत्या, जालसाज़ी जैसे उन क्रिया-कलापों को रोकता है जो समाज के लिए विघटनकारी हैं। दूसरी ओर, दीवानी कानून व्यक्तियों के अधिकारों को, जैसे संपत्ति संबंधी विवादों के समाधान का काम करते हैं। दीवानी कानून सामाजिक जीवन की प्रकृति से संबंधित होने के कारण कई प्रकार के होते हैं। वे व्यावसायिक, संवैधानिक तथा पारिवारिक हो सकते हैं।

सभी समाजों में कानून निर्माण तंत्र जीवन के विविध क्षेत्रों से संबंधित विधानों को बनाता है। ये विधान विविध प्रकार के हो सकते हैं। उनमें से कुछ का निर्माण समाज में, कानून और व्यवस्था बनाए रखने के लिए किया जाता है। इस तरह के विधान सामाजिक स्थिरता को बनाए रखने के सामाजिक नियंत्रण तंत्र के रूप में कार्य करते हैं। इसके विपरीत कुछ विधानों का प्रयोग समाज की कुरीतियों और रूढ़िवादी विश्वासों को दूर करने के लिए किया जाता है। सामाजिक विधान शब्द का प्रयोग इन विधानों को व्यक्त करने के लिए किया जाता है। सामाजिक विधान समाज में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इसलिए विधान सामाजिक परिवर्तन के महत्त्वपूर्ण उपकरण हैं।

विधि और सामाजिक परिवर्तन

इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है जहां समाज में परिवर्तन के लिए कानूनों का इस्तेमाल किया गया। इच्छित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कानूनों का निर्माण किया गया। यह सिर्फ परिवर्तन की बात ही नहीं करता बल्कि प्रमुख सामाजिक परिवर्तनों के लिए पृष्ठभूमि का निर्माण भी करता है। वास्तव में कानून के द्वारा प्रयासपूर्वक सामाजिक परिवर्तन आज के समाज की सामान्य प्रवृत्ति है। यह पद्धति आज लगभग सभी विकसित और विकासशील समाजों में देखी जाती है। पश्चिमी पूंजीवादी समाज में होने वाले परिवर्तन और सोवियत संघ जैसे समाजों का उदय कानूनों के माध्यम से ही हुआ है। उदाहरण के तौर पर, सोवियत संघ और दूसरे कई पूर्व यूरोपीय देशों में कानूनों के माध्यम से ही सफलतापूर्वक संपूर्ण परिवर्तन हुए। आय का पुनर्वितरण, उद्योगों का राष्ट्रीयकरण, भूमि-सुधार और मुफ्त शिक्षा के प्रावधान परिवर्तन को प्रारंभ करने में कानून के प्रभावशाली होने के उदाहरण हैं।

सामाजिक परिवर्तन में कानून के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष पहलुओं में भेद किया गया है। कई मामलों में कानून सामाजिक संस्थाओं से प्रत्यक्ष अंत:क्रिया करता है और स्पष्ट परिवर्तन लाता है। उदाहरण के तौर पर, बहुविवाह पर रोक लगाने वाला कानून सामाजिक परिवर्तन को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है। यह व्यक्तियों के व्यवहार के तरीकों में बदलाव लाता है। दूसरी ओर, विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के गठन में कानून अप्रत्यक्ष भूमिका अदा करता है जो समाज पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालते हैं। इस संदर्भ में सबसे उपयुक्त उदाहरण अनिवार्य शिक्षा का है जो शैक्षणिक संस्थाओं के कार्यों को प्रोत्साहित करती है और इसके द्वारा सामाजिक परिवर्तन में सीधी भूमिका अदा करती है। परंतु इस तरह का विभेद पूर्ण नहीं बल्कि सापेक्षिक है। कभी-कभी प्रत्यक्ष सामाजिक परिवर्तन पर अधिक ज़ोर होता है और अप्रत्यक्ष पर कम और कभी-कभी इसके विपरीत भी होता है।

सामाजिक परिवर्तन में कानून की भूमिका जांचने के दूसरे उपाय भी हैं। कानून प्रतिमानों की स्थिति को पुनर्परिभाषित करता है और सामाजिक संस्थाओं के नए रूपों की संभावना को जन्म देता है। यह लोगों को औपचारिक सुविधाएं उपलब्ध कराता है और विस्तृत अधिकार प्रदान करता है। उदाहरण के तौर पर, भारत में कानून, छुआछूत के अमानवीय व्यवहार का न सिर्फ निषेध करता है बल्कि उनसे प्रभावित होने वाले लोगों को इसके विरुद्ध औपचारिक अधिकार भी देता है। इस अर्थ में कानून कुछ प्रथाओं और नैतिकताओं को न सिर्फ संहिताबद्ध करता है, बल्कि समाज विशेष में प्रचलित व्यवहारों एवं मूल्यों में परिवर्तन भी करता है। इस तरह कानून दो अंत:संबंधित प्रक्रियाओं में क्रमबद्धता लाता है- संस्थायीकरण तथा व्यवहार की पद्धतियों का आभ्यंतरीकरण। व्यवहार की पद्धतियों के संस्थायीकरण का आशय है कार्यान्वयन के लिए प्रावधानों के साथ मानदंडों का निर्माण। दूसरी ओर व्यवहार की पद्धतियों के आभ्यंतरीकरण की स्वीकृति से आशय कानून में निहित मूल्यों की स्वीकृति तथा व्यवहार में उसका प्रयोग है। जब संस्थायीकरण की प्रक्रिया सफल होती है तब यह विश्वासों एवं प्रवृत्तियों की स्वीकृति को संभव बनाती है।

भारत में कानून व्यवस्था

ऐतिहासिक दृष्टि से प्राचीन भारत में समानता के सिद्धांत पर आधारित कोई सार्वजनिक न्यायिक व्यवस्था नहीं थी। प्राचीन भारत में कानून और धर्म के बीच गहरा संबंध था। कानून के नियम धर्म के नियमों से भिन्न नहीं थे। यह कहा जाता था कि सभी कानून धर्मशास्त्रों में निहित हैं। न्यायिक व्यवस्था जातियों

और वर्गों की सामाजिक स्थिति पर आधारित थी। लोगों को न्याय देने के लिए किसी एक समान कानून का प्रयोग नहीं होता था। अखिल भारतीय स्तर पर भी एक समान कानूनी मानदंड नहीं थे। स्थानीय प्रथाएं तथा क्षेत्रीय रिवाज ही इन नियमों को निर्धारित एवं परिभाषित करते थे। प्राचीन कानूनी व्यवस्था की एक और विशेषता इसकी 'समूह केंद्रीयता' थी। कानूनी नियम व्यक्ति की बजाय एक इकाई के रूप में समाज पर ज़्यादा लागू किए जाते थे। कानूनी व्यवस्था का यह चरित्र मध्यकाल के दौरान भी प्रचलित था।

देश की कानूनी एवं न्यायिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन अंग्रेज़ी शासन काल के दौरान ही आए। अंग्रेज़ों ने पारंपरिक कानूनी व्यवस्था में तमाम परिवर्तन किए। नई कानूनी व्यवस्था सार्वजनिकता के सिद्धांत पर आधारित थी। कानून के सामने समानता के विचार को प्रश्रय मिला तथा इसे कानूनी स्वीकृति भी प्राप्त हुई। विभिन्न स्तरों पर न्यायालयों की स्थापना हुई। भारतीय दंड संहिता एवं सिविल दंड प्रक्रिया के निर्माण ने एक मज़बूत न्यायिक व्यवस्था को जन्म दिया। यह कानून व्यवस्था सिर्फ आपराधिक न्याय तक ही सीमित नहीं थी। इसने लोगों के घरेलू एवं व्यक्तिगत जीवन को भी अपनी सीमा में समेट लिया। कई सामाजिक कानून प्रयोग में आए जो सामूहिक सौदेबाज़ी, सामाजिक सुरक्षा और रोज़गार अनुबंध जैसे क्षेत्रों को अपने में समाहित करते थे। प्रथागत कानूनों को तार्किक रूप देने के क्रम में कानूनों को निरंतर वर्गीकृत रूप देने की परंपरा शुरू हुई। इसने कानून और धर्म के बीच अंतराल को और बढ़ाया।

इसके अतिरिक्त पारंपरिक रूढ़िवादी सामाजिक रीति-रिवाजों के प्रभावों से संबंधित कुछ विधानों को लागू किया गया जिन्होंने उपनिवेशवादी शासनकाल में सामाजिक सुधार की दिशा में कार्य किया। उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय समाज अमानवीय प्रथाओं एवं रीति-रिवाजों में पूरी तरह जकड़ा हुआ था। पूरे देश में छुआछूत की प्रथा का बोलबाला था। महिलाओं की स्थिति सर्वाधिक निम्न थी। बाल विवाह, विधवा विवाह निषेध तथा सती प्रथा जैसी कुरीतियों ने औरतों को जीवनपर्यंत पीड़ा एवं अपमान सहने के लिए बाध्य किया। परंतु इन अमानवीय रीति-रिवाजों को समाज सुधारकों ने चुनौती दी और भारतीय अंग्रेज़ी सरकार ने समाज सुधार से संबंधित कई कानून बनाए। सती प्रथा (विधवा को जलाना) को 1829 में गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। हिंदू विधवा पुनर्विवाह की धारा 1856 ने हिंदू विधवाओं के पुनर्विवाह को कानूनी तौर पर वैध कर दिया। जब ब्रह्म समाज के सदस्यों ने बंगाल में इससे दिक्कत महसूस की तो 1872 में एक 'नेटिव विवाह अधिनियम' पास हुआ। ब्रह्म समाजियों ने घोषणा की कि वे भारत के किसी धार्मिक समुदाय के अंतर्गत नहीं आते हैं। इस प्रकार इस अधिनियम ने विवाह संबंधी ऐसे कानून के रूप में कार्य किया जिसके अंतर्गत विविध धार्मिक मतों को मानने वालों के बीच वैवाहिक संबंध स्थापित हो सकता था। विवाह से संबंधित दूसरा महत्त्वपूर्ण अधिनियम 'एज ऑफ कंसेंट एक्ट' 1891 था। इस अधिनियम के अंतर्गत बारह वर्ष से कम आयु की लड़की के विवाह का निषेध किया गया। वैवाहिक जीवन को प्रभावित करने वाले कानूनों के अतिरिक्त भूमि तथा उद्योगों से संबंधित कई कानूनों को उन्नीसवीं शताब्दी के अंत के वर्षों में बनाया गया। 'फैक्ट्री एक्ट - 1881' कारखानों में काम करने वाले मज़दूरों के कल्याण से संबंधित था। बंगाल कानूनदारी अधिनियम 1885 ने भूमि धारण के अधिकार की व्यवस्था में सुधार किया। इसी तरह से प्रेस एक्ट 1878 सामूहिक संचार माध्यम के क्षेत्र में मील के पत्थर की तरह था। इन कानूनों ने सांस्कृतिक परिवर्तन के कारणों को आगे ही नहीं बढ़ाया बल्कि कृषि प्रधान ढांचे को भी परिवर्तित कर दिया।

स्वतंत्र भारत में सामाजिक विधान

भारत में सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति एवं विस्तार पर स्वतंत्रता के पश्चात हुए क्रांतिकारी सामाजिक विधानों का बड़ा प्रभाव पड़ा है। वे अर्थव्यवस्था, राज्यव्यवस्था, व्यापार तथा वाणिज्य से लेकर विवाह, परिवार और उत्तराधिकार तक के क्षेत्र को अपने में समाहित करते हैं। वास्तव में मानव जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जो विधानों द्वारा प्रभावित न होता हो। परंतु आज़ादी के पश्चात बनाए गए विधानों की संख्या इतनी अधिक है कि उन सभी पर यहां चर्चा नहीं हो सकती। इसलिए हमने कुछ प्रमुख विधानों का चयन सामाजिक परिवर्तन में उनकी भूमिका को उभारने के लिए किया है।

सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिए कानूनों को पास किया गया है। भारतीय संविधान के सत्रहवें अनुच्छेद के अंतर्गत छुआछूत पर रोक है तथा किसी भी रूप में इसका आचरण दंडनीय है। बाद में एक विस्तृत कानून 'छुआछूत (अपराध) अधिनियम', 1955 पास हुआ। इस कानून को संशोधित करके नागरिक अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1975 के रूप में लाया गया। इस अधिनियम के अनुसार एक अछूत समझा जाने वाला व्यक्ति धार्मिक स्थलों सहित सभी सार्वजनिक स्थानों पर आ-जा सकता है। यद्यपि यह विधान छुआछूत के अमानवीय रिवाज को पूरी तरह से नहीं मिटा पाया लेकिन इसने निश्चित रूप से जाति प्रथा के पूर्वाग्रह की जड़ पर चोट की है।

इसी तरह, महिलाओं तथा बच्चों के विकास के लिए भी कई कानून बनाए गए। इन अधिनियमों ने समाज में महिलाओं एवं बच्चों की स्थिति में बहुत स्पष्ट सुधार किए। विशेष विवाह अधिनियम, 1954, हिंदू विवाह अधिनियम, 1955, हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956, तथा दहेज विरोधी अधिनियम, 1961 ने हिंदू समाज की मूलभूत संरचना में बदलाव प्रारंभ किए। इनमें से अधिकांश विधानों को मूलभूत तथा प्रासंगिक समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में आगे चलकर संशोधित किया गया। उदाहरण के तौर पर, किसी लड़की को वयस्क होने से पहले किए गए विवाह से इंकार करने का अधिकार देने के लिए हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 को 1976 में संशोधित किया गया। वास्तव में पहला अधिनियम अपने आप में ही अत्यंत सशक्त था क्योंकि यह 'एक विवाह' पर ज़ोर देता था तथा हिंदुओं को तलाक का अधिकार प्रदान करता था। दहेज विरोधी अधिनियम, 1961 को भी 1984 में संशोधित किया गया, जिसके तहत महिलाओं के विरुद्ध क्रूरतापूर्ण व्यवहार को भी संज्ञेय अपराध माना गया। विधानों के द्वारा जो सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन लाए गए थे, उसने महिलाओं की प्रस्थिति सुधारने के लिए अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण किया।

बच्चों के अधिकारों के संरक्षण तथा सुरक्षा के लिए भी कई कानूनों को पास किया गया। उनमें से कुछ प्रमुख हैं- हिंदू एडोप्टेशन एंड मेनटिनेंस एक्ट, 1956, बाल मज़दूरी (रोक एवं व्यवस्थापन) एक्ट, 1986, विकलांग व्यक्ति (समान अवसर, अधिकारों की रक्षा तथा पूर्ण सहभागिता) एक्ट, 1996, बाल-अपराध न्याय एक्ट, 2000 इत्यादि।

जनजातियों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति के परिवर्तन में कानून की भूमिका अत्यधिक स्पष्ट है। उत्तर-पूर्व भारत, जहां बड़ी संख्या में जनजातियां निवास करती हैं, के उदाहरण से हम इस मुद्दे पर प्रकाश डाल सकते हैं। इस क्षेत्र के जनजातीय समुदायों ने अपनी पारंपरिक अर्थव्यवस्था, सांस्कृतिक जीवन तथा राजनीतिक व्यवस्था में अत्यधिक बदलाव का अनुभव किया है। भारत के संविधान की छठी अनुसूची के अंतर्गत असम, मेघालय, त्रिपुरा तथा मिज़ोरम की जनजातियों को मिलने वाले सुरक्षात्मक उपायों ने प्रशासन एवं विकास से संबंधित तमाम

कार्यक्रम उपलब्ध कराए हैं। नागालैंड में रहने वाले नागाओं की सांस्कृतिक पहचान की सुरक्षा के लिए संविधान की अनुसूची 371 क के अंतर्गत विशेष प्रावधान बनाए गए हैं। राज्य सरकारों ने कई ऐसे विधानों को पास किया है जिससे जनजातियों की पहचान को सुरक्षित रखते हुए भी परिवर्तन को संभव बनाया जा सकता है। छठी अनुसूची के प्रावधानों के अंतर्गत बनाए गए स्वायत्तशासी 'डिस्ट्रिक्ट कौंसिलों' को जनजातियों की भूमि पर नियंत्रण रखने के लिए व्यापक अधिकार दिए गए हैं। मेघालय राज्य द्वारा पास किए गए भूमि हस्तांतरण अधिनियम, 1971 ने भूमि के हस्तांतरण को लगभग रोक ही दिया है। इसी तरह 'लुसाई हिल्स डिस्ट्रिक्ट' (चीफ के अधिकारों का अधिग्रहण) के अधिनियम, 1954 ने मिज़ो लोगों के चीफ की सदियों पुरानी व्यवस्था को खत्म कर दिया क्योंकि इसकी मांग वहां के लोगों ने स्वयं की थी। यहां हमने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि भारत जैसे लोकतांत्रिक राज्य में सामाजिक परिवर्तन के लिए विधानों का प्रयोग प्रभावशाली ढंग से किया जा सकता है।

लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण

संस्थाओं तथा व्यक्ति के बीच शक्ति के बंटवारे का प्रश्न शासन में संलग्न लोगों के बीच महत्त्वपूर्ण बहस का मुद्दा रहा है। शक्ति के इस प्रकार के बंटवारे की आवश्यकता आधुनिक विश्व में लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था को स्वीकृति मिलने के बाद बढ़ी है। विकेंद्रीकरण का तात्पर्य है- संस्थाओं तथा संगठनों में निर्णय करने के अधिकार में निचले वर्ग की सहभागिता। इसे लोकतांत्रिक इसलिए कहा जाता है कि इस तरह की सहभागिता लोकतंत्र और लोकतंत्रात्मकता के मूल सिद्धांतों पर आधारित है। विकेंद्रीकरण के विविध रूप होते हैं; जैसे- राजनीतिक, प्रशासनिक और आर्थिक।

ऐसे तर्क दिए जाते हैं कि विभिन्न स्तरों पर लोकतंत्रीय व्यवस्था के क्रिया-कलापों के लिए विकेंद्रीकरण अत्यावश्यक है। यह पारंपरिक रूप से कमज़ोर एवं वंचित सामाजिक वर्गों को शक्ति संपन्न बनाता है। हमारे देश जैसे आकार में बड़े एवं जटिल सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य वाले देशों के लिए विकेंद्रीकरण विशेष रूप से आवश्यक है। हमारा अपना देश इस दृष्टि से एक अच्छा उदाहरण है। भारत में धार्मिक, भाषाई, सांस्कृतिक तथा आर्थिक दृष्टि से विविधता पाई जाती है। अतः भौगोलिक तथा सामाजिक जटिलताओं के कारण योजना तथा प्रशासन के लिए विकेंद्रीकरण की अत्यधिक आवश्यकता है।

विकेंद्रीकरण की आवश्यकता भारत में लंबे समय से महसूस की जा रही है तथा इसे प्राप्त करने के लिए प्रयास भी किए जाते रहे हैं। आज़ादी के पश्चात लोकतंत्र के उद्देश्यों की प्राप्ति तथा विकास के लिए विकेंद्रीकरण विशेष रूप से आवश्यक हो गया है।

आगे आने वाले खंडों में हम लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण को प्राप्त करने के लिए पंचायती राज व्यवस्था का अध्ययन संरचना एवं संस्थागत योजनाओं के रूप में करेंगे।

पंचायती राज संस्था

पृष्ठभूमि

भारत में पंचायत का इतिहास सैकड़ों वर्ष पुराना है। पंचायत शब्द का प्रयोग कुछ व्यक्तियों (पंच-पांच) की एक सभा के लिए होता है जो गांव के सामूहिक मामलों पर फैसले करती है। लोग पंच में इतना विश्वास रखते हैं कि उन्हें पंच परमेश्वर कहा जाता है (ईश्वर उन पांच व्यक्तियों के माध्यम से बोलता है)। यह सामान्यतः स्वशासी संस्था है।

एक स्वशासी संस्था के रूप में भारत में पंचायत का विकास अपने लंबे इतिहास के दौरान काफी

उतार-चढ़ावों से भरा रहा है। फिर भी, राष्ट्रीय राजनीतिक परिदृश्य पर महात्मा गांधी के आगमन के साथ ही पंचायत के आदर्श पुनर्जीवित हो उठे। गांधी जी ने इस बात पर बल दिया कि ग्राम पंचायत अब एक विशेष रूप में जीवंत शक्ति की तरह बन जाएगी तथा भारत अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप प्राय: आत्मशासी सरकार चलाएगा। फलस्वरूप एक स्थानीय शासन की व्यवस्था के रूप में पंचायत की अवधारणा भारत के स्वाधीनता आंदोलन में महत्त्वपूर्ण मुद्दा बनी रही। लेकिन जब भारत स्वतंत्र हुआ तब गांधी जी के सपनों की पंचायत भारतीय संविधान में प्रमुख स्थान नहीं प्राप्त कर सकी। इसे केवल चालीसवें अनुच्छेद में राज्य के नीति निदेशक तत्त्व के रूप में सम्मिलित किया गया। चालीसवें अनुच्छेद के अनुसार, "राज्य ग्राम पंचायतों के गठन के लिए कदम उठाएगा और उन्हें ऐसी शक्ति और अधिकार प्रदान करेगा जो उन्हें स्थानीय स्वशासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने योग्य बनाएगी।"

यह दिलचस्प तथ्य है कि यद्यपि संविधान के नीति-निदेशक तत्त्व अपनी प्रकृति में केवल सांकेतिक हैं लेकिन पंचायती राज व्यवस्थाओं के महत्त्व को सभी राज्यों द्वारा स्वीकार किया गया। स्वतंत्रता-प्राप्ति के तत्काल बाद ग्रामीण क्षेत्रों के लिए एक महत्त्वाकांक्षी विकास योजना का आरंभ हुआ। इस योजना ने, जिसे सामुदायिक विकास योजना के नाम से जाना जाता था, ग्राम विकास की लगभग सभी गतिविधियों को शामिल किया। परंतु यह अपने लक्ष्यों की प्राप्ति पूरी तरह नहीं कर सकी। उसकी सीमित सफलता के कारणों के मूल्यांकन के लिए भारत सरकार ने एक अध्ययन दल की नियुक्ति की। इसका नेतृत्व बलवंत राय मेहता ने किया जो उस समय सांसद थे। अध्ययन दल इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि सामुदायिक विकास योजना अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में असफल रही हैं और इसका कारण कार्यक्रम में जनता की सहभागिता का अभाव है। इसे ध्यान में रखते हुए उसने विकास योजनाओं में लोगों की भागीदारी को बढ़ाने के लिए लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण के सिद्धांत पर आधारित कई संस्थाओं के निर्माण की संस्तुति की। देश में त्रिस्तरीय पंचायती राज संस्थाओं का गठन इन्हीं संस्तुतियों का परिणाम था। सन 1959 तक भारत के सभी राज्यों ने पंचायत अधिनियमों को पारित कर लिया था। फलत: गांव (गांव-पंचायत) प्रखंड (पंचायत समिति) और ज़िला (ज़िला-परिषद्) के स्तर पर पंचायतों की स्थापना हुई। 'अशोक मेहता समिति' नामक एक अन्य समिति ने भी पंचायती राज व्यवस्था का मूल्यांकन किया। इस समिति ने तृणमूल शासन के लिए द्विस्तरीय व्यवस्था का सुझाव दिया परंतु सरकार ने इसे स्वीकार नहीं किया और 'बलवंत राय मेहता समिति' के सुझाव के आधार पर त्रिस्तरीय व्यवस्था को ही अपनाया गया।

पंचायतों की यह व्यवस्था लगभग दो दशकों से अधिक समय तक चलती रही। यद्यपि विभिन्न राज्यों में इन संस्थाओं के मूल उद्देश्य समान थे परंतु इनके अधिकार, कार्य और चुनाव के तरीकों में भिन्नता थी। इन परिस्थितियों में इन संस्थाओं का प्रदर्शन हर राज्य में अलग-अलग तरह का था। कुछ राज्यों में उन्होंने विकास-कार्यों में प्रभावशाली भूमिका निभाई, परंतु कुछ राज्यों में पंचायतों ने केवल विभिन्न जाति समूहों में इन संस्थाओं में शक्ति पर अधिकार संबंधी विवादों और प्रतिस्पर्धाओं को जन्म दिया। पंचायती राज ग्रामीण समाज के कमज़ोर वर्गों के लोगों को लाभ प्रदान करने में असफल रहा।

साथ ही, इन संस्थाओं का संगठनात्मक आधार काफी कमज़ोर था। किसी कानूनी बंधन के अभाव में पंचायतों के नियमित चुनाव नहीं कराए जा सके। विभिन्न पंचायती निकायों को कोई वित्तीय अधिकार नहीं दिया गया। सरकारी अधिकारियों ने पंचायत-

प्रतिनिधियों पर अंकुश लगाए रखा। इस प्रकार की लालफीताशाही ने प्रतिभा का हनन किया और पंचायती राज की संस्थाओं में लोगों की रुचि को कम कर दिया। इस प्रकार पंचायती राज संस्थाओं के गतिरोध और पतन का दौर नवें दशक के पूर्वाद्र्ध तक चलता रहा। इसी समय इन्हें पुनर्जीवित करने के लिए कदम उठाए गए।

हाल में किए गए प्रयास

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, राज्य के नीति-निदेशक तत्त्वों में एक छोटे से उल्लेख के सिवा पंचायत को कोई संवैधानिक मान्यता प्राप्त नहीं थी। परंतु 1993 में पंचायतों को संवैधानिक मान्यता प्राप्त होने के बाद स्थिति में मूलभूत परिवर्तन आया। पंचायत पर संविधान का 73 वां संशोधन अधिनियम, 1992, संसद में दिसंबर 1992 में पारित हुआ और 20 अप्रैल 1993 को इसे भारत के राष्ट्रपति की सहमति मिली। यह उस वर्ष 24 अप्रैल से प्रभावी हो गया। यह संशोधन जनता को शक्ति संपन्न करने के सिद्धांत पर आधारित है और पंचायतों को संवैधानिक गारंटी प्रदान करता है। इस अधिनियम के प्रमुख पक्ष निम्नलिखित हैं-

1. यह पंचायतों को 'स्वशासी संस्थाओं' के रूप में स्वीकार करता है।
2. यह पंचायतों को आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय के लिए योजना बनाने हेतु शक्ति और उत्तरदायित्व प्रदान करता है।
3. यह 20 लाख से अधिक जनसंख्या वाले सभी राज्यों के मध्य (ब्लाक/तालुका) और ज़िला स्तर पर समान त्रिस्तरीय शक्ति संपन्न पंचायतों की स्थापना के लिए प्रबंध करता है।
4. यह पंचायतों के संगठन, अधिकार और कार्यों, वित्तीय व्यवस्था तथा चुनावों, एवं समाज के कमजोर वर्गों के लिए पंचायत के विभिन्न स्तरों पर स्थानों के आरक्षण के लिए दिशा-निर्देश देता है।

इन लक्षणों के साथ संविधान के 73 वें संशोधन अधिनियम को मूलभूत लोकतंत्र की दिशा में क्रांतिकारी कदम कहा गया है। इससे स्वशासन में लोगों की भागीदारी के लिए संवैधानिक गारंटी प्रदान की गई है। इस संशोधन के लिए बनाया गया नक्शा यथार्थ बन चुका है। सभी राज्यों ने संशोधन के प्रावधानों के अनुकूल निश्चित विधान पारित कर लिए हैं। इस प्रकार पंचायती राज व्यवस्था के इतिहास में पहली बार पंचायतों में एक उच्च स्तर की समानता पाई गई है।

कुछ राज्यों में जनजातीय क्षेत्रों के लिए एक अन्य अधिनियम पारित किया गया है। पंचायत (अनुसूचित क्षेत्र में विस्तार) अधिनियम, 1996 के प्रावधानों ने पंचायतों को आंध्र प्रदेश, छत्तीसगढ़, गुजरात, हिमाचल प्रदेश, झारखंड, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, उड़ीसा और राजस्थान के जनजातीय क्षेत्रों तक विस्तृत कर दिया। यह 24 दिसंबर 1996 को लागू हो गया। सभी राज्यों ने 1996 के अधिनियम 40 में दिए गए प्रावधानों को प्रभावी बनाने के लिए कानून पारित किए हैं। इस पृष्ठभूमि के अंतर्गत हम पंचायती राज संस्थाओं के विविध पक्षों जैसे उसका गठन, संरचना अधिकार और कार्यों का विवेचन करेंगे।

संरचना और बनावट

पंचायतों का संगठन ग्राम, ब्लाक और ज़िला स्तर पर होता है। सामुदायिक विकास ब्लाक या तालुका के लिए मध्यवर्ती शब्द का प्रयोग होता है क्योंकि वह ग्राम और ज़िले के बीच स्थित होता है। परंतु यदि राज्य की जनसंख्या बीस लाख से कम हो तो मध्यवर्ती स्तर की पंचायतों का गठन नहीं हो सकता।

ग्राम सभा एक निकाय है जिसमें ग्राम पंचायत के क्षेत्र के अंतर्गत आने वाले गांव की मतदाता सूची में

पंजीकृत सभी लोग शामिल होते हैं। ग्राम-सभा को पंचायती राज की आत्मा कहा गया है। चूंकि ग्राम-पंचायत के सभी पंजीकृत मतदाता ग्राम-सभा में शामिल होते हैं, इसलिए यह ग्राम-पंचायत की सामान्य सभा की तरह कार्य करती है। इससे व्यवस्था में पारदर्शिता तथा उत्तरदायित्व सुनिश्चित करने के लिए लोगों को एक मंच मिलता है। सभी राज्य पंचायत अधिनियमों में ग्राम-सभा के गठन का प्रावधान है। सभा को छः महीने में कम-से-कम एक बार मिलना आवश्यक है।

पंचायत के अलग-अलग निर्वाचन-क्षेत्रों से प्रत्यक्ष चुनाव से चुने गए लोगों द्वारा पंचायत की सीट भरी जाती हैं। प्रत्येक पंचायत क्षेत्र को इस उद्देश्य से अलग-अलग निर्वाचन-क्षेत्रों में विभाजित किया जाता है।

ग्राम स्तर पर पंचायत का मुखिया संबंधित पंचायत के मतदाताओं द्वारा सामान्य तरीके से चुना जाता है। लेकिन ब्लाक स्तर अथवा ज़िला स्तर पर अध्यक्ष का चुनाव चुने हुए सदस्यों द्वारा होता है।

सीटों का आरक्षण

सभी पंचायतों में अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए उस पंचायत क्षेत्र में उनकी जनसंख्या के अनुपात में सीट आरक्षित रहती हैं। राज्य के निर्णय के आधार पर अन्य पिछड़े वर्गों के नागरिकों के लिए भी सीटों के आरक्षण का प्रावधान किया जा सकता है।

सीधे चुनाव के द्वारा भरी जाने वाली सीटों का कम-से-कम एक-तिहाई भाग महिलाओं के लिए सुरक्षित रहता है। इसमें अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों की महिलाओं के लिए आरक्षित सीट भी शामिल हैं।

विभिन्न स्तरों पर पंचायत-प्रमुख का पद भी अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा महिलाओं के लिए आरक्षित रहता है। पहले दो श्रेणियों के लिए आरक्षित सीटों का निर्धारण उनकी जनसंख्या के आधार पर होता है। लेकिन महिलाओं के संदर्भ में पंचायत-प्रमुखों की आरक्षित सीटों की संख्या प्रत्येक स्तर पर कुल पदों की संख्या के एक-तिहाई से कम नहीं हो सकती।

अंत में, राज्यों को अन्य पिछड़े वर्गों के लिए किसी भी स्तर पर सीटों तथा पदों में आरक्षण के लिए प्रावधान रखने का अधिकार मिला हुआ है।

पंचायत की समयावधि

प्रत्येक पंचायत का समय इसकी पहली मीटिंग की तिथि से पांच वर्ष तक का होता है। इसकी समयावधि के पूरा होने से पहले पंचायत के गठन के लिए चुनाव होना आवश्यक है।

यद्यपि, राज्य सरकारों को पंचायतों को इसके पांच वर्ष की समयावधि से पहले भंग करने का अधिकार मिला हुआ है। परंतु ऐसी परिस्थिति में इसके भंग होने से छः महीने के भीतर ही पंचायत के गठन के लिए चुनाव होना आवश्यक है।

पंचायतों के अधिकार एवं उत्तरदायित्व

पंचायतों को स्व-शासन की संस्था के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिए कई अधिकार एवं शक्तियां मिली हुई हैं। इसके लिए दो प्रमुख क्षेत्रों का निर्धारण किया गया है, वे हैं-

(क) आर्थिक विकास तथा सामाजिक न्याय के लिए योजनाओं का निर्माण, तथा

(ख) आर्थिक विकास तथा सामाजिक न्याय के लिए योजनाओं का क्रियान्वयन।

संविधान की ग्यारहवीं अनुसूची में उपर्युक्त योजनाओं से संबंधित कुछ विषयों को सूचीबद्ध किया गया है, जिसे विविध स्तरों पर पंचायतों द्वारा स्वीकार किया जा सकता है। इनमें कुछ प्रमुख हैं -

1. कृषि
2. भूमि सुधार, भूमि सुधार का क्रियान्वयन, भूमि चकबंदी
3. सीमित सिंचाई, जलाशयों का विकास
4. पशुपालन
5. मत्स्यपालन
6. सामाजिक वानकी
7. लघु उद्योग
8. खादी, ग्राम तथा कुटीर उद्योग
9. पेयजल
10. ग्रामीण आवास
11. सड़कें, पुलिया तथा पुल इत्यादि
12. ग्रामीण विद्युतीकरण
13. गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम
14. प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा
15. सांस्कृतिक कार्यकलाप
16. स्वास्थ्य एवं स्वच्छता

अन्य प्रमुख संवैधानिक प्रावधान

उपर्युक्त प्रावधानों के अतिरिक्त पंचायती राज व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए संविधान ने कुछ अन्य प्रावधानों का निर्माण भी किया है-

(क) पंचायतों को उपयुक्त कर तथा शुल्क लगाने तथा वसूलने के लिए अधिकृत करना।
(ख) पंचायतों की आर्थिक स्थिति की समीक्षा के लिए राज्य द्वारा वित्त आयोग का गठन करना।
(ग) प्रत्येक राज्य में राज्य चुनाव आयुक्त सहित राज्य चुनाव आयोग का गठन करना। यह पंचायत के सभी चुनावों को संचालित करेगा।

शहरी क्षेत्र में पंचायत

कुछ शहरी क्षेत्रों में पंचायत के गठन के लिए भी प्रावधान बनाए गए हैं। स्वशासन की प्रभावशाली लोकतांत्रिक इकाई के रूप में स्थानीय शहरी निकायों को समान रूपरेखा प्रदान करने के लिए संसद ने 1992 में संविधान के (74वें संशोधन) अधिनियम को पारित किया जो नगरपालिकाओं से संबंधित था। इस धारा को 20 अप्रैल 1993 को राष्ट्रपति की स्वीकृति मिली। यह अधिनियम तीन तरह की नगरपालिकाओं के गठन को स्पष्ट करता है –

(क) ग्रामीण से नगरीय क्षेत्र में संक्रमित होने वाले क्षेत्रों के लिए नगर पंचायत।
(ख) छोटे नगरीय क्षेत्र के लिए नगर परिषद्।
(ग) बड़े नगरीय क्षेत्र के लिए नगर निगम।

ग्रामीण पंचायत की तरह इस अधिनियम ने इन निकायों को प्रभावशाली तथा मजबूत बनाने के लिए प्रावधानों का निर्माण किया है। इन प्रावधानों में नगरपालिकाओं का निश्चित कार्यकाल, राज्य चुनाव आयोग की नियुक्ति, राज्य वित्त आयोग की नियुक्ति तथा महानगरीय तथा जिला योजना आयोग का गठन शामिल है। सभी राज्यों ने इन प्रावधानों को कार्यान्वित किया है।

अब तक के हमारे विवेचन से स्पष्ट है कि पंचायती राज व्यवस्था ने हमारे लोकतंत्रीय राजनीतिक ढांचे में महत्त्वपूर्ण स्थान हासिल किया है। लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण को प्राप्त करने में वे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही हैं। ग्रामीण क्षेत्रों के सामाजिक-आर्थिक विकास की गति में तीव्रता आई है। विकास के प्रयास में लोगों की सहभागिता का स्तर भी बढ़ा है। इस तरह से इसने हम लोगों को स्व-शासन की प्रक्रिया के दरवाज़े पर खड़ा कर दिया है।

ग्राम संबंधी निर्णय की प्रक्रिया में कमज़ोर वर्गों की सहभागिता को कानूनी तौर पर सुनिश्चित किया गया। इसने पंचायती राज के सामाजिक आधार को बढ़ावा दिया। महिलाओं की समस्याओं को उजागर करने के

लिए आरक्षण के माध्यम से उनका सशक्तीकरण किया गया। वास्तव में, आरक्षण ने पंचायतों को ग्राम समुदाय का अधिक सटीक प्रतिनिधि बना दिया है। निश्चित रूप से, आरक्षण अपने आप समानता नहीं ला देता है, लेकिन यह इन वर्गों को इसमें भाग लेने का अवसर प्रदान करता है। सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया तभी संभव है, जब समाज के सभी पक्ष निर्णय-निर्धारण की भूमिका में सक्रिय रूप से सहभागी हों।

शब्दावली

दीवानी कानून - वह कानून जो दो व्यक्तियों के बीच के संबंधों का नियमन करता है।

फौजदारी कानून - वह कानून जो समाज की संरचना को भंग करने वाले कार्यों का निषेध करता है।

आई. पी. सी. - इसे इंडियन पीनल कोड कहते हैं। वह पुस्तक जो अपराध और दंड को परिभाषित करती है। यह सन 1860 से काम में लाई जा रही है और समय-समय पर इसमें संशोधन होते रहते हैं।

'किशोर' अथवा 'बच्चा' - 18 वर्ष से कम उम्र का व्यक्ति।

अभ्यास प्रश्न

1. कानून का अर्थ क्या होता है ?
2. दीवानी कानून एवं फौजदारी कानून के मध्य अंतर स्पष्ट कीजिए।
3. सामाजिक परिवर्तन लाने में सामाजिक विधान की भूमिका की व्याख्या कीजिए।
4. पंचायती राज का क्या अर्थ है?
5. संविधान के 73वें संशोधन की मुख्य विशेषताएं क्या हैं?
6. पंचायत के अंतर्गत मुख्य मुद्दों की सूची बनाइए।
7. भारत में सामाजिक परिवर्तन लाने में पंचायती राज व्यवस्था कितनी सफल रही है?

संदर्भ-ग्रंथ

- गैलेंतर, मार्क, ***लॉ एंड सोसायटी इन माडर्न इंडिया***, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1997
- झा, एस. एन. एवं माथुर, पी. सी., ***डिसैंट्रलाइजेशन एंड लोकल पॉलिटिक्स***, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 1999

अध्याय 5

आर्थिक विकास तथा सामाजिक परिवर्तन

हम जानते हैं कि सामाजिक जगत कई पक्षों से बना है, जैसे–आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, शैक्षणिक इत्यादि। इन सभी पक्षों का विश्लेषण एक-दूसरे से पृथक रूप में किया जा सकता है, परंतु वे एक-दूसरे को प्रभावित भी करते हैं। इस अर्थ में, सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करते समय हम सामाजिक जीवन के आर्थिक पक्ष की उपेक्षा नहीं कर सकते।

सभी व्यक्तियों की आर्थिक समस्याएं होती हैं। एक व्यक्ति के रूप में हम किस प्रकार अपना जीविकोपार्जन करते हैं, यह जीवन का सबसे महत्वपूर्ण तथ्य है। उसी प्रकार किसी समाज का सबसे मुख्य तथ्य यह है कि इसके सदस्यगण अपने भोजन का उत्पादन एवं वितरण किस प्रकार करते हैं। इस तरह, आर्थिक उत्पादन समाज का मौलिक कार्य है और यह सामाजिक संरचना के ढांचे को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

भारत गांवों का देश है। हमारे देश में छः लाख से अधिक गांव हैं। कृषि लोगों का मुख्य आर्थिक कार्य है। अतः ग्रामीण इलाकों में भूमि उत्पादन का मुख्य साधन है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि भारत का आर्थिक विकास मूलतः कृषि विकास पर निर्भर है। इस पृष्ठभूमि में अब हम कृषि संरचना तथा सामाजिक परिवर्तन के कुछ निर्णायक पक्षों पर विचार करेंगे।

भूमि-सुधार

भारत में सामाजिक-आर्थिक विकास से संबंधित किसी भी चर्चा में कृषि संरचना एक महत्वपूर्ण पक्ष है। आर्थिक पिछड़ापन तथा ग्रामीण असंतोष जैसे सभी मुद्दे भूमि-संबंधी प्रश्नों के मौलिक स्वरूप से जुड़े हैं। भूमि लोगों का मुख्य आधार बनी हुई है। यह ग्रामीण क्षेत्रों की न केवल संरचनात्मक विशेषता है, बल्कि भूमि संबंधों में परिवर्तन सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन का भी महत्वपूर्ण संकेतक है।

भूमि-सुधार की अवधारणा

'भूमि-सुधार' शब्द का प्रयोग संकीर्ण तथा व्यापक दोनों अर्थों में किया गया है। संकीर्ण और सामान्यतः स्वीकृत अर्थ में, भूमि-सुधार का अर्थ छोटे किसान तथा भूमिहीनों के लाभ के लिए ज़मीन के अधिकारों का पुनर्वितरण है। भूमि-सुधार की यह अवधारणा इसके सरलतम तत्त्व को व्यक्त करती है जो सामान्यतः सभी भूमि-सुधार नीतियों में विद्यमान हैं। दूसरी ओर, व्यापक अर्थ में भूमि व्यवस्था में संबंधित संस्थाओं और कृषि-संगठन में किसी भी प्रकार के सुधार को भूमि सुधार कहा जाता है। भूमि-सुधार की यह अवधारणा स्पष्ट करती है कि भूमि-सुधार को केवल ज़मीन के पुनर्वितरण तक सीमित नहीं रहना चाहिए, बल्कि कृषि की स्थिति में सुधार के लिए अन्य

उपायों को भी हाथ में लेना चाहिए। संयुक्त राष्ट्र ने भूमि-सुधार की इस धारणा को स्वीकार किया है। संयुक्त राष्ट्र की परिभाषा के अनुसार, आदर्श भूमि-सुधार कार्यक्रम ऐसा संकलित कार्यक्रम है जो कृषि संरचना के दोषों से उत्पन्न आर्थिक तथा सामाजिक विकास के अवरोधों को समाप्त करने के लिए बनाया गया है।

प्रस्तुत संदर्भ में भी भूमि-सुधारों से हमारा तात्पर्य उन कार्यक्रमों से है जो भारत में कृषि व्यवस्था के संरचनात्मक अवरोधों को समाप्त करने के लिए सरकार द्वारा हाथ में लिए गए हैं।

भूमि-सुधार के उद्देश्य

विभिन्न देशों में भूमि-सुधार के पीछे एक सी प्रेरणा विद्यमान नहीं होती, परंतु कुछ सामान्य उद्देश्य सभी जगह पाए जाते हैं।

भूमि-सुधार के पीछे सामाजिक न्याय तथा आर्थिक समानता की भावना हमेशा से रहा है। संपूर्ण आधुनिक दुनिया में समानता का विचार जनसामान्य की चेतना का अंश बन चुका है। विशेषकर परंपरागत संस्तरित समाज में समानता का विचार एक क्रांतिकारी शक्ति के रूप में उभरा है। इसके अंतर्गत भेदभाव एवं गरीबी के सबसे बुरे रूप की समाप्ति भी शामिल है। समानता तथा सामाजिक न्याय की विचारधारा भूमि-सुधार तथा निर्धनता उन्मूलन जैसे कार्यक्रमों में प्रकट की गई है।

भूमि-सुधार के पीछे राष्ट्रवाद दूसरी प्रेरणा रहा है। दुनिया के अधिकांश विकासशील देशों ने द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ही स्वतंत्रता प्राप्त की थी। अतः राष्ट्रीय स्वाधीनता की सफलता औपनिवेशिक शासन के दिनों में निर्मित संस्थागत ढांचे की समाप्ति से जुड़ी रही है। इन ढांचों के अंतर्गत विदेशी व्यक्तियों के स्वामित्व में बड़ी भू-संपत्ति अथवा औपनिवेशिक काल में लागू की गई विभिन्न प्रकार की भूमि व्यवस्था सम्मिलित हो सकती है। भारत में ज़मींदारी उन्मूलन इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। ज़मींदारी व्यवस्था अंग्रेज़ी शासन काल में स्थापित भूमि बंदोबस्त का एक रूप था। यह औपनिवेशिक शोषण का एक प्रतीक था। स्वाभाविक रूप से यह व्यवस्था सदैव भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के नेताओं का मुख्य निशाना रही। अतएव, स्वतंत्रता के पश्चात ज़मींदारी उन्मूलन भूमि-सुधार कार्यक्रमों के प्राथमिक चरण का एक लक्ष्य बन गया है। हम इस विषय में आगे विस्तार से चर्चा करेंगे।

समकालीन विश्व में प्रजातंत्र का ज़ोरदार समर्थन भूमि-सुधार जैसे कार्यक्रमों के पीछे एक अन्य प्रेरणा रही है। सभी राजनीतिक ताकतों के लिए प्रजातंत्र का विचार एक प्रेरक शक्ति बन गया है। स्वाधीनता और न्याय के लक्ष्य को प्रजातांत्रिक समाज में ही प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार किसी देश के निर्धन एवं वंचित नागरिक भी अपनी शिकायतों और मांगों को लोकतांत्रिक तरीकों से व्यक्त कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में सुधार के लिए एक वातावरण बनता है।

भूमि-सुधार ज़मीन की उत्पादकता बढ़ाने का एक माध्यम माना जाता है। अतः कृषि प्रधान देशों में आर्थिक विकास के लिए इसे एक मुख्य मुद्दे के रूप में स्वीकार किया गया है। यह कृषि विकास का एक प्रमुख कार्यक्रम बन गया है। भूमि-सुधार के उपायों के प्रभावशाली कार्यान्वयन द्वारा कृषि व्यवस्था के पुनर्गठन के बुनियादी मुद्दों का समाधान होता है।

भारत में भूमि-सुधार

भारत में भूमि-सुधार दो मुख्य कारकों – राजनीति और किसानों की संगठनात्मक गतिशीलता से प्रारंभ हुआ। राजनीतिक कारक पहले ब्रिटिश शासन से और बाद में राष्ट्रवाद के विकास से जुड़ा था। इसने ऐसी स्थिति का निर्माण किया कि सरकार के लिए

भूमि-सुधार के उपायों का बीड़ा उठाना अनिवार्य हो गया। इस प्रकार कृषि संबंधी कुछ कानून उन्नीसवीं सदी के मध्य में ही बने जिन्होंने रैयतों के अधिकारों को सुरक्षित रखने की कोशिश की।

स्वाधीनता संग्राम के समय जनता की गरीबी तथा ज़मींदारों एवं सूदखोरों द्वारा किसानों के अत्यधिक शोषण ने राजनीतिक नेताओं का ध्यान अपनी ओर खींचा। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कार्यक्रमों के लिए यह एक महत्वपूर्ण मोर्चा बन गया। जवाहरलाल नेहरू की पहल और महात्मा गांधी की स्वीकृति से कृषि सुधार का एक मुख्य कार्यक्रम सन 1936 में प्रस्तुत किया गया। कांग्रेस के फैज़पुर अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय भाषण में नेहरू ने 'कृषक और राज्य के बीच के बिचौलियों के निष्कासन' और उसके पश्चात 'सहकारी अथवा सामूहिक खेती' की बात उठाई।

लगभग उसी समय देश के विभिन्न भागों में बढ़ते किसान आंदोलनों ने दबाव डालना प्रारंभ कर दिया। अखिल भारतीय किसान सभा ने सन 1936 में लखनऊ की एक बैठक में ज़मींदारी उन्मूलन, रैयतों के दखल-अधिकार, भूमिहीन मज़दूरों के बीच परती जमीन के पुनर्वितरण आदि मांगों को उठाया। वस्तुत: सन 1920 और 1946 के बीच अनेक किसान संगठन बने जिन्होंने मध्यम एवं गरीब किसानों की शिकायतों को व्यक्त किया। स्वामी सहजानंद सरस्वती के नेतृत्व में किसान सभा आंदोलन, 1918 का खेड़ा आंदोलन, 1928 का बारदोली सत्याग्रह तथा बंगाल में 1946-47 का तिभागा आंदोलन स्वतंत्रता-पूर्व के कुछ प्रमुख किसान आंदोलन थे। कृषक असंतोष पूरे देश में फैल गया था। किसानों तथा भूमि मालिकों के बीच व्यापक संघर्ष इन शिकायतों के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए थे। यदि इन्हें इनके उद्देश्यों के संदर्भ में देखा जाए, तो इन किसान आंदोलनों के सकारात्मक परिणाम निकले। लंबे संघर्षों के दबाव ने सरकार को किसानों की शिकायतों के समाधान की योजना बनाने के लिए बाध्य कर दिया। इस अर्थ में, स्वतंत्रता पूर्व के किसान आंदोलनों का स्वतंत्रता के तत्काल बाद प्रारंभ हुए भूमि-सुधार कार्यक्रमों की दृष्टि से ऐतिहासिक महत्त्व है।

स्वतंत्रता के बाद भूमि-सुधार

स्वतंत्रता के तत्काल बाद अन्यायपूर्ण कृषि संरचना में परिवर्तन की राष्ट्रीय नीति के एक अंश के रूप में भूमि-सुधार पर काफ़ी जोर दिया गया। भूमि-सुधार को भूमि कानून के ज़रिए प्रारंभ करने की रणनीति अपनाई गई। मुख्य रूप से यह भारत सरकार द्वारा निर्देशित व राज्य विधायिकाओं द्वारा लागू किए गए थे।

भूमि-सुधार के प्रारंभिक उद्देश्य निम्नांकित थे–

(क) पूर्व प्राप्त कृषि संरचना से उत्पन्न मूल भाव एवं दूसरी रुकावटों का निराकरण।

(ख) कृषि व्यवस्था में व्याप्त शोषण एवं सामाजिक अन्याय के सभी तत्वों का निष्कासन, ताकि समाज के सभी वर्गों को प्रस्थिति एवं अवसरों की समानता मिल सके।

इन उद्देश्यों से यह स्पष्ट है कि कृषि के आधुनिकीकरण तथा कृषि अर्थव्यवस्था में व्याप्त असमानताओं को घटाने की दृष्टि से ही भूमि-सुधार कार्यक्रम प्रारंभ किए गए थे। इन उद्देश्यों को निम्नांकित कार्यक्रमों में रूपांतरित किया गया था –

(क) राज्य एवं जमीन जोतने वालों के बीच सभी प्रकार के मध्यस्थ वर्गों का उन्मूलन।

(ख) किसानों द्वारा खेती की जाने वाली भूमि पर उनके स्वामित्व का अधिकार प्रदान किया गया।

(ग) खेतों की जोत का सीमा निर्धारण।

(घ) कृषि में आधुनिक तकनीकों के प्रयोग को सुलभ बनाने की दृष्टि से जोतों की चकबंदी।

(ड.) भूमि संबंधी रिकार्ड को तर्क संगत बनाना।

इन कार्यक्रमों की विस्तृत जानकारी इस प्रकार है —

(क) बिचौलियों का उन्मूलन : ब्रिटिश शासकों ने ज़मीन से अधिकतम राजस्व प्राप्त करने के उद्देश्य से तीन प्रकार के भूमि बंदोबस्त आरंभ किए- ज़मींदारी, रैयतवाड़ी तथा महलवाड़ी। ज़मींदारी व्यवस्था के अंतर्गत ज़मीन की संपत्ति का अधिकार स्थानीय लगान वसूलने वालों को दिया गया। वे ज़मींदार कहलाए और ये सामान्यत: ऊंची जातियों के सदस्य थे। इस नए बंदोबस्त ने वास्तविक किसानों को रैयत बना दिया। भूमि व्यवस्था में इस संरचनात्मक परिवर्तन ने राज्य एवं ज़मीन जोतने वालों के बीच बिचौलियों को खड़ा कर दिया। रैयतवाड़ी व्यवस्था के अंतर्गत बिचौलियों को मान्यता नहीं मिली। ज़मीन जोतने वालों को अपनी ज़मीन पर हस्तांतरण का अधिकार दिया गया। किंतु इस व्यवस्था के अंतर्गत भी प्रभावशाली रैयत शक्तिशाली भू-स्वामी के रूप में उभरे। महलवाड़ी व्यवस्था में भी बिचौलियों का एक वर्ग उत्पन्न हो गया।

इन बिचौलियों (मध्यस्थ वर्ग) की भूमि प्रबंधन एवं सुधार में कोई अभिरुचि नहीं थी। इसके अतिरिक्त ज़मींदारों को एक निश्चित राजस्व की रकम सरकार को देनी होती थी, परंतु किसानों से वसूली की कोई सीमा नहीं थी। समय-समय पर अनगिनत गैर-कानूनी उपकर थोप दिए जाते थे। ज़मींदारी व्यवस्था के अंतर्गत अन्यत्रवासिता (एबसेंटिज़्म) अत्यंत सामान्य बात थी। अतएव व्यवस्था न केवल अन्यायी थी, बल्कि इसमें आर्थिक शोषण तथा सामाजिक उत्पीड़न का तीक्ष्ण रूप विद्यमान था।

इस पृष्ठभूमि में स्वतंत्रता के प्रारंभिक वर्षों में बिचौलियों का उन्मूलन भूमि-सुधार का पहला लक्ष्य बना। इस कार्यक्रम के द्वारा देश के सभी क्षेत्रों में बिचौलियों जैसे — ज़मींदारों, जागीरदारों, मिरासदारों आदि की समाप्ति की कोशिश की गई। इसने खेतिहरों को राज्य के साथ प्रत्यक्ष रूप से जोड़ दिया। इन खेतिहरों को भूमि के स्थायी अधिकार दिए गए। इस तरह देश के प्राय: सभी राज्यों ने 1954-55 तक अनेक भूमि-सुधार विधियों के द्वारा बिचौलियों का उन्मूलन कर दिया। बिचौलियों का उन्मूलन आधुनिक कृषि संरचना की ओर बढ़ने का असाधारण प्रयास था।

(ख) काश्तकारी सुधार : किराए के आधार पर दूसरे व्यक्ति की ज़मीन के उपयोग एवं अधिग्रहण काश्तकारी को कहा जाता है। देश के विभिन्न भागों में ज़मीन काश्तकारी की प्रथा काफी दूर तक फैली हुई है। ज़मींदारी तथा रैयतवाड़ी दोनों इलाकों में विभिन्न प्रकार की काश्तकारी; जैसे- बटाईदारी निर्धारित उत्पादन व्यवस्था, निर्धारित-नगदी व्यवस्था आदि प्रचलित रही है। इस व्यवस्था के अंतर्गत छोटे किसान एवं भूमिहीन लोग धनी भू-स्वामियों से खेती के लिए ज़मीन किराए पर लेते हैं। ये भूमिहीन खेतिहर ज़मीन के बदले भू-स्वामियों को माल (उत्पाद) अथवा नगदी लगान देते हैं। इन्हें काश्तकार (रैयत) (स्थानीय नाम हैं : असम में अधियार, पश्चिम बंगाल में बरगदार, बिहार में बटाईदार, तमिलनाडु में वरमदार, पंजाब में कामिन) कहते हैं। इन काश्तकारों की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति कमज़ोर होती है और सुरक्षा एवं संरक्षण का भी अभाव होता है। भू-स्वामियों द्वारा इन्हें कभी भी बेदखल किया जा सकता है। अत: सभी व्यावहारिक दृष्टियों से वे 'इच्छानुसार काश्तकार' (टेनैंट्स-एट-विल) रहे हैं।

काश्तकारी के व्यापक प्रचलन के कारण विभिन्न श्रेणियों के काश्तकारों के अधिकारों एवं

दायित्वों को न्यायपूर्ण बनाने के लिए सुधार कार्यक्रमों को हाथ में लिया गया। काश्तकारी सुधारों के तीन मुख्य पक्षों पर जोर डाला गया :

(क) लगान पर नियंत्रण,

(ख) धारण (टेन्योर) व्यवस्था की सुरक्षा, तथा

(ग) काश्तकारों (किसानों) को खरीद का अधिकार।

ये कदम खेती करने वाले काश्तकारों की स्थिति को सुधारने के लिए उठाए गए। लगान पर नियंत्रण कर इन्हें निष्ठुर लगान से सुरक्षित रखा गया है। भू-धारण-व्यवस्था की सुरक्षा से भू-स्वामियों द्वारा इन्हें बेदखल किए जाने से रोका गया है। काश्तकारों को खेती वाली ज़मीन पर स्वामित्व का अधिकार दिया गया है। सितंबर 2000 तक 124.22 लाख काश्तकारों की 156.30 लाख एकड़ ज़मीन पर उनके अधिकारों को सुरक्षित किया गया है।

(ग) जोत की भूमि का सीमा निर्धारण : जोत की भूमि की सीमा निर्धारित करने का मूल उद्देश्य एक निश्चित सीमा से अधिक भूमि को वर्तमान भू-स्वामियों से लेकर भूमिहीनों के बीच वितरित करना था। यह पुनर्वितरण मूलत: सामाजिक-आर्थिक न्याय के सिद्धांत पर आधारित है। भारत में भू-स्वामित्व की असमानता एक सुप्रसिद्ध तथ्य है। स्वतंत्रता के समय ग्रामीण परिवारों में एक चौथाई के पास कोई ज़मीन नहीं थी, जबकि काफी संख्या में भू-स्वामियों के स्वामित्व में हज़ारों एकड़ ज़मीन थी। इस असंतुलन को दूर करने के लिए ही कृषि भूमि पर जोतों का निर्धारण किया गया।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में जोतों की सीमा निर्धारण से संबंधित विधान भूमि-सुधार के दूसरे चरण का हिस्सा था। लगभग सभी राज्यों में यह प्रक्रिया द्वितीय पंचवर्षीय योजना के दौरान प्रारंभ की गई। प्राय: सभी राज्यों में व्यक्ति अथवा परिवार के स्वामित्व में रहने वाले खेतों के आकार को नियंत्रित करने वाले विधान हैं। परंतु अनुमानित-आकार भूमिका की गुणवत्ता के आधार पर अलग-अलग हैं। निर्धारित सीमा से अधिक ज़मीन अर्जित करने की मनाही है। सीमा निर्धारण से प्राप्त अधिशेष भूमि राज्य (सरकार) द्वारा अधिगृहीत कर समुदाय के कमज़ोर वर्गों के बीच वितरित की जाती है।

यद्यपि सीमा निर्धारण कानून केंद्रीय सरकार द्वारा सुझाई गई व्यापक परिधि के अंतर्गत ही पारित हुए हैं, परंतु विभिन्न राज्यों के कानूनों में अंतर है। सभी अधिनियमों में सीमा में अनेक प्रकार की छूट दी गई है। सीमा के निर्धारण में भी भिन्नता है। अधिकांश राज्यों में निर्धारित सीमा काफी ऊंची है और कुछ राज्यों के कानूनों में पर्याप्त गुंजाइश छोड़ दी गई है, जिससे भू-स्वामी इसके साथ धोखेबाजी न कर सकें। अधिशेष भूमि के अधिग्रहण एवं भूमिहीनों में इनके वितरण के कामों में भी प्रगति काफी धीमी है।

संपूर्ण देश के स्तर पर प्रारंभ में सितंबर 2000 तक कुल घोषित अधिशेष भूमि 73.49 लाख एकड़ थी। इसमें केवल 64.84 लाख एकड़ अधिगृहीत की गई है और 52.99 लाख एकड़ वितरित हो पाई है। देश में इस कार्यक्रम से लाभांवित होने वाले लोगों की कुल संख्या 55.10 लाख है जिसमें 36 प्रतिशत अनुसूचित जातियों तथा 15 प्रतिशत अनुसूचित जनजातियों के सदस्य हैं।

(घ) जोतों की चकबंदी : भूमि का छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजन कृषि विकास में एक महत्त्वपूर्ण बाधा रही है। अधिकांश खेत न केवल छोटे हैं बल्कि दूर तक फैले भी हैं। अत: अनेक राज्यों में जोतों की चकबंदी से संबंधित कानूनी उपाय किए गए हैं। इसकी मुख्य बात यह है कि एक किसान की जोत के भिन्न-भिन्न टुकड़ों को एक अथवा दो जगहों पर एकत्र किया जाना जिससे संसाधनों का उचित इस्तेमाल किया जा सके। मुख्य सिंचाई परियोजनाओं के

अधिगृहीत क्षेत्रों में चकबंदी पर विशेष ध्यान देने का काम हुआ है।

(ङ) भूमि आलेख (रिकार्ड) : भूमि के अधिकारों से संबंधित आलेख अत्यंत दोषपूर्ण एवं असंतोषजनक हैं। सही तथा नवीनतम रिकार्डों की उपलब्धता हर समय समस्या रही है। अतः प्रमाणित भूमि रिकार्ड का नवीनीकरण भूमि-सुधार कार्यक्रमों का हिस्सा बना दिया गया है।

फिर भी इस कार्य की प्रगति अत्यंत दयनीय रही है। पंचवर्षीय योजना के आलेख बताते हैं कि "अनेक राज्यों के रिकार्ड, रैयत दर रैयत तथा बटाईदारों से संबंधित कोई सूचना नहीं देते।" साथ ही, आगे कहा गया है कि देश के अधिकांश इलाकों का अभी भी आधुनिकतम भूमि रिकार्ड नहीं है। इस स्थिति के पीछे मुख्य कारण यह है कि बड़े भू-स्वामी इसका कड़ा विरोध करते हैं।

फिर भी कई राज्यों ने भूमि रिकार्ड को पुनर्रक्षित सर्वे एवं बंदोबस्त द्वारा आधुनिकतम बनाने की प्रक्रिया प्रारंभ कर दी है। इन रिकार्डों को कंप्यूटरीकृत करने के कदम भी उठाए गए हैं। भूमि दस्तावेज़ों के कंप्यूटरीकरण के लिए केंद्र सरकार द्वारा प्रायोजित कार्यक्रम आरंभ किए गए हैं जो कि रिकार्ड के रख-रखाव की हस्तचालित व्यवस्था एवं उन्हें आधुनिकतम बनाने से जुड़ी समस्या के समाधान से संबंधित हैं।

हरित क्रांति

भारत में छठे दशक के अंत में खाद्यान्नों के उत्पादन में आधारभूत अंतर एवं आश्चर्यजनक गति से हुई वृद्धि को हरित क्रांति का नाम दिया गया है। यहां 'हरित' शब्द ग्रामीण क्षेत्रों के हरे-भरे खेत के लिए प्रयुक्त हुआ है और 'क्रांति' व्यापक परिवर्तन को रेखांकित करती है।

हाल के वर्षों तक देश में पर्याप्त खाद्यान्नों की उपलब्धता एक गंभीर समस्या रही है। अपार जनसंख्या के भोजन के लिए खाद्यान्नों का आयात विकसित देशों से किया जाता था। भूमि की निम्न उत्पादकता, वर्षा पर अत्यधिक निर्भरता और पुरानी कृषि संरचना खाद्यान्नों की कमी के मुख्य कारण थे। इस स्थिति में खाद्यान्नों में आत्मनिर्भरता हमारे राष्ट्रीय प्रयासों की सर्वोच्च प्राथमिकता हो गई। हमने पहले ही देखा है कि किस प्रकार पंचवर्षीय योजना के विभिन्न कार्यक्रम, भूमि-सुधार और सामुदायिक विकास कार्यक्रम सभी इस लक्ष्य की प्राप्ति में जुटे रहे हैं। परंतु प्रारंभ में इन प्रयासों को कृषि उत्पादन बढ़ाने में सफलता नहीं मिली। फलस्वरूप, छठे दशक के प्रारंभ में कृषि विकास की प्रक्रिया को तेज़ करने के लिए एक नई कृषि रणनीति बनी।

नई कृषि रणनीति इस सोच पर आधारित थी कि कृषि में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी का व्यापक प्रयोग खाद्यान्नों के उत्पादन में प्रचुर मात्रा में वृद्धि के रूप में फलदायी हो सकता है। छठे दशक के प्रारंभ में इस रणनीति के तहत किसानों की आवश्यकताओं के अनुरूप कृषि विकास कार्यक्रमों में संशोधन किए गए। इस दृष्टि से जिन मुख्य कार्यक्रमों को हाथ में लिया गया उसकी चर्चा आगे के अनुच्छेदों में की गई है।

वर्ष 1961 में गहन कृषि जिला कार्यक्रम जिसे 'पैकेज कार्यक्रम' भी कहा जाता था, देश के सात जिलों में प्रयोग के तौर पर प्रारंभ किया गया। यह कार्यक्रम बाद में कुछ और ज़िलों में भी प्रारंभ किया गया। इसका उद्देश्य उन्नत औज़ार, साख (ऋण), अधिक उपज वाले बीज, सुनिश्चित सिंचाई इत्यादि को एक साथ मिलाकर कृषि की उत्पादकता बढ़ाना था। इस गहन कृषि के प्रयोग का अच्छा परिणाम हुआ। खाद्यान्नों के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई और इस कार्यक्रम का विस्तार बड़े क्षेत्रों में किया गया। इसके फलस्वरूप एक नया कार्यक्रम 'गहन कृषि क्षेत्र कार्यक्रम' के नाम से प्रारंभ किया गया।

अभूतपूर्व सफलता से उत्साहित होकर छठे दशक के उत्तरार्द्ध में कुछ अन्य कार्यक्रमों तथा एजेंसियों का प्रादुर्भाव हुआ। इनमें भारी उपज वाले बीज कार्यक्रम, लघु किसान विकास एजेंसी और सीमांत किसान एवं कृषि मज़दूर विकास कार्यक्रम प्रमुख थे। इन कार्यक्रमों को उर्वरकों, कीटनाशक औषधियों, संस्थागत ऋण एवं विस्तृत सिंचाई सुविधाओं की सुनिश्चित आपूर्ति के साथ जोड़ा गया। इन सभी कार्यक्रमों में 'भारी उपज वाले बीज कार्यक्रम' का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा। अधिक उपज वाले बीज के कारण खाद्यान्नों का उत्पादन काफी बढ़ा। सन 1977-78 के दौरान गेहूं का उत्पादन दुगुना हो गया तथा चावल का उत्पादन भी बढ़ना प्रारंभ हो गया, किंतु मकई, ज्वार और बाजरा के क्षेत्र में प्रगति मंद रही।

हरित क्रांति, जिसका आगमन छठे दशक के अंत में हुआ, आज भी कायम है। गेहूं क्रांति से यह प्रारंभ हुआ, परंतु बाद में चावल इससे आगे निकल गया। दूसरे अनाज जैसे दलहन, ज्वार, मकई तथा बाजरा भी अधिक पीछे नहीं रहे। उसी तरह, इसकी यात्रा पंजाब से देश के अन्य क्षेत्रों तक चलती रही। अब हम न केवल खाद्यान्नों में आत्मनिर्भर हैं बल्कि इसका निर्यात भी करने लगे हैं। हमारे इस कथन को खाद्यान्नों से संबंधित आंकड़े पुष्ट करते हैं।

वर्ष 1999-2000 में खाद्यान्नों का कुल उत्पादन 20 करोड़ 88 लाख टन रहा जो पिछले वर्ष की उपज से 52.6 लाख टन अधिक था। चावल का उत्पादन 1998-99 के 8 करोड़ 6 लाख की तुलना में 1999-2000 में 8 करोड़ 94 लाख टन हुआ। गेहूं का उत्पादन वर्ष 1998-99 के 7 करोड़ 10 लाख टन की तुलना में 1999-2000 में बढ़कर 7 करोड़ 56 लाख टन हो गया। परंतु मोटे अनाजों (ज्वार, बाजरा, मकई आदि) की उपज वर्ष 1998-99 के 3 करोड़ 13 लाख टन की जगह 1999-2000 में घट कर 3 करोड़ हो गई। वर्षा पर पूर्णतः निर्भर रहने के कारण मोटे अनाजों की उपज में काफी रूपांतरण होता रहता है।

हरित क्रांति के सामाजिक-आर्थिक परिणाम

हरित क्रांति ने निश्चित रूप से देश में खाद्य स्थिति में सुधार किया है। इसने भूख की समस्या का समाधान किया है तथा भारतीय अर्थव्यवस्था के आगे के विकास के लिए एक मज़बूत आधार तैयार किया है। इसने किसानों की मानसिकता को बदला है। इस संदर्भ में आंद्रे बेतेई ने सही कहा है कि, "हरित क्रांति ने भारतीय किसानों की सक्रियता में एक नया विश्वास जगाया है, क्योंकि इसने न केवल तकनीकी *नवाचार को शीघ्रता से आत्मसात करने की क्षमता* दिखाई है बल्कि सामाजिक प्रबंधों को निपुणता के साथ संचालित भी किया है।"

किंतु इस कार्यक्रम का प्रभाव कृषक जनसंख्या के विभिन्न खंडों पर समान रूप से नहीं पड़ा है। हम यहां इस तथ्य को स्पष्ट करना चाहते हैं कि हरित क्रांति से लघु और गरीब किसानों, बटाईदारों और भूमिहीन कृषि-मज़दूरों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति में अस्थिरता पैदा हुई है।

नवीन तकनीकी तथा उन्नत बीज, उर्वरक, कीटनाशक औषधि, सिंचाई आदि जैसे निवेश लघु एवं सीमांत किसानों की पहुंच से बाहर हैं। स्वाभाविक रूप से पंजाब जैसे बड़ी जोतों वाले कुछ इलाकों में, बिहार और उड़ीसा, जहां सीमांत एवं गरीब किसान काफी संख्या में हैं और संस्थागत ऋण भी सहजता से उपलब्ध नहीं है, की तुलना में यह अधिक सफल रहा है। इसने लघु किसानों और धनी किसानों के बीच की दूरी बढ़ा दी है।

दूसरे, संपन्न किसान ज़मीन से प्राप्त मुनाफे से प्रसन्न हैं परंतु कृषि-मज़दूरों की वास्तविक मज़दूरी अधिकांश स्थानों पर घट रही है। काफी संख्या में

बटाईदार अब भूमिहीन मज़दूरों की कतार में शामिल हो रहे हैं, क्योंकि अब छोटे खेत इन बटाईदारों को खेती के लिए उपलब्ध नहीं हो रहे हैं।

तीसरे, कृषि क्षेत्र में आर्थिक असमानता बढ़ रही है जिससे ग्रामीण क्षेत्रों में असंतोष फैल रहा है। छठे दशक के अंत तथा सातवें दशक के प्रारंभ में संघर्ष के अनेक उदाहरण सामने आए जो विशेष कर हरित क्रांति वाले क्षेत्रों से थे। स्थिति काफी गंभीर हो गई और भारत सरकार के गृह मंत्रालय ने कृषि संबंधी तनाव के कारणों एवं स्वरूप के अध्ययन के बाद नई कृषि रणनीति के सामाजिक -राजनीतिक निहितार्थ को स्वीकार किया। रिपोर्ट के निष्कर्ष में कहा गया कि नई कृषि रणनीति ने ''संपन्न किसानों तथा लघु भू-स्वामियों एवं भूमिहीन कृषि श्रमिकों के बड़े समूह के बीच दरार बढ़ा दी है।'' इस समस्या के विश्लेषण में पी. सी. जोशी का तर्क है कि संघर्ष और असंतोष 'पुरानी कृषि संरचना में निहित हैं।' जहां इस प्रकार की कृषि संरचना तनाव का मूल कारण है, वहीं 'प्रत्यक्ष' कारण, जिससे 'अव्यक्त' असंतोष 'व्यक्त' तनाव के रूप में फूटता है नई कृषि रणनीति तथा हरित क्रांति में अवस्थित है।

हरित क्रांति के कारण जो सामान्य संपन्नता आई उसमें गरीब किसान, बटाईदार तथा भूमिहीन कृषि मज़दूर लाभप्रद हिस्सेदार बनने में सक्षम नहीं हो पाए। इस संदर्भ में टी. के. उम्मन बताते हैं कि क्रांति स्वत: गरीबों का कल्याण नहीं कर पाएगी जब तक वर्तमान सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक संरचना का निचले स्तर तक रूपांतरण न हो जाए।

अंत में, कृषि उत्पादन में बढ़ोत्तरी मुख्य रूप से पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, तमिलनाडु और महाराष्ट्र जैसे क्षेत्रों में ही दृष्टिगोचर हो रही है। देश के अधिकांश इलाके इस कृषि परिवर्तन से लाभांवित नहीं हुए हैं। उसी तरह हरित क्रांति पट्टियों में पूंजीपति किसानों का एक नया वर्ग उत्पन्न हुआ है। एक दूसरी प्रवृत्ति का संकेत है कि कृषि उत्पादन बढ़ा है, परंतु सामाजिक अभिसूचक उसी अनुपात में नहीं बदला है। उदाहरण के लिए, जिन क्षेत्रों में कृषीय संपन्नता प्राप्त कर ली गई है वहां लिंग-अनुपात अभी भी प्रतिकूल है। परंतु इन सीमाओं के बावजूद हरित क्रांति ने निस्संदेह तीव्र आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त किया है और तदनुरूप सामाजिक परिवर्तन आया है।

शब्दावली

समता : समता लोगों को समानता के आधार पर देखने का और भेदभाव न रखने का विचार है।

खेड़ा आंदोलन : यह गरीब किसानों द्वारा स्वतंत्रता से पहले चलाया गया आंदोलन जो भू-स्वामियों द्वारा किसानों के शोषण के विरुद्ध था।

मध्यस्थ (बिचौलिए) : ये किसानों एवं ज़मींदारों के बीच के व्यक्ति थे और सामान्यत: अपने स्वार्थ के लिए गरीब किसानों का शोषण करते थे।

भूमि चकबंदी : भू-स्वामियों के लिए एक विशिष्ट पैमाने की भूमि रखने का प्रावधान किया गया। यह व्यवस्था समानता लाने के लिए प्रारंभ की गई, अतिरिक्त भूमि का आवंटन भूमिहीन किसानों को किया जाता था।

अभ्यास प्रश्न

1. भूमि-सुधार से आप क्या समझते हैं ?
2. भारत में भूमि-सुधार के मुख्य उद्देश्य क्या थे?
3. स्वतंत्रता के पश्चात भूमि-सुधार के क्या उद्देश्य थे ?
4. भारत में भूमि-सुधार का मुख्य उद्देश्य बिचौलियों (मध्यस्थों) को हटाना क्यों था ?
5. भूमि चकबंदी के पीछे क्या उद्देश्य था ?
6. भारत में हरित क्रांति के सामाजिक-आर्थिक परिणामों की व्याख्या कीजिए।

संदर्भ-ग्रंथ

- जोशी, पी. सी., ***लैंड रिफार्म्स इन इंडिया***, एलाइड पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1975
- बेतेई, आंद्रे, ***स्टडीज इन एग्रेरियन सोशल स्ट्रक्चर***, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1974
- दुबे, एस. सी., ***ट्रेडीशंस एण्ड डेवलपमेंट***, विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1990
- शर्मा, के. एल., ***रूरल सोसायटी इन इंडिया***, रावत पब्लिकेशंस, जयपुर, 1997
- स्मेलसर, नील. जे. द ***सोशियोलॉजी ऑफ इकोनोमिक लाइफ***, प्रेंटिस हॉल, नई दिल्ली, 1975

अध्याय 6

नव समूह, वर्ग तथा भूमंडलीकरण

सामाजिक संरचना तथा स्तरीकरण के अध्ययन के समय आपने देखा होगा कि जाति और वर्ग सामाजिक स्तरीकरण के दो मुख्य रूप हैं। इन दोनों व्यवस्थाओं को 'बंद' तथा 'खुली' वर्ग व्यवस्थाओं के रूप में भी व्यक्त किया जाता है। अत: यह स्पष्ट है कि विभिन्न समाजों में कठोरता की दृष्टि से स्तरीकरण के ढांचे अलग-अलग होते हैं और किसी समाज विशेष के अंदर भी एक समय से दूसरे समय में इसमें भिन्नता पाई जाती है। इस अर्थ में, स्तरीकरण के प्रतिमान सदा स्थिर नहीं होते। इनके स्वरूप और संरचना में परिवर्तन होते रहते हैं। अतएव, एक व्यक्ति का न केवल वर्ग स्तर बदल सकता है बल्कि एक या दो पुश्तों में उसके जातीय स्तर में भी परिवर्तन आ सकता है। इस तथ्य की विवेचना हमने संस्कृतिकरण की प्रक्रिया की चर्चा करते समय भी की थी। यहां हम इस प्रश्न पर प्रकाश डालना चाहते हैं कि सामाजिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप हर समाज में नए समूह और वर्ग उत्पन्न होते रहते हैं। इस अध्याय में हम भारतीय समाज के उदाहरणों द्वारा इस बात पर विचार करेंगे कि सामाजिक परिवर्तन के कारण उत्पन्न नए समूहों और वर्गों का स्वरूप कैसा है।

भारतीय समाज में परिवर्तन की दिशा नए समूहों और वर्गों की उत्पत्ति तथा उनके दृढ़ीकरण को प्रकट करती है। यह प्रवृत्ति न केवल ग्रामीण क्षेत्रों में, बल्कि शहरी तथा औद्योगिक इलाकों में भी दिख रही है। फिर भी, इन समूहों तथा वर्गों के स्वरूप और आकार से संबंधित सुव्यवस्थित समाजशास्त्रीय अध्ययनों के अभाव में इनके विषय में निर्णायक विवरण देना कठिन है। अत: हमने इस प्रवृति को स्पष्ट करने के लिए कुछ ही समूहों की चर्चा की है।

सज्जन किसान (जैंटलमैन फार्मर)

आज देश में परंपरागत भू-स्वामी वर्ग की बनावट बदल रही है। पहले अधिकांश भू-स्वामियों को ज़मीन केवल अपने पूर्वजों के उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ करती थी। ज़मीन बाज़ार में नहीं खरीदी जा सकती थी, क्योंकि भू-बाज़ार पूर्ण विकसित नहीं था। किंतु अब यह स्थिति बदल गई है। भूमि-सुधार और हरित क्रांति के कारण कृषि व्यवस्था में बदलाव आया है। कृषि में नई तकनीक के प्रवेश से कृषि उत्पादन की पद्धति में परिवर्तन आया है। ज़मीन की तुलना में अन्य संसाधनों का महत्त्व बढ़ गया है। ट्रैक्टर, यांत्रिक हल, पंपसेट, थ्रैसर आदि जैसे संसाधनों को बाज़ार से खरीदा जा सकता है। अत: यदि किसी ने अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार में ज़मीन नहीं भी प्राप्त की है फिर भी उसके लिए यह संभव है कि वह इन साधनों द्वारा भू-स्वामियों के वर्ग में शामिल हो सकता है।

इस प्रकार किसानों का एक नया वर्ग पनप रहा है, जिसमें कुशलताओं के जानकार तथा अनुभवी

लोग शामिल हैं। वे परंपरागत ऊंची जाति वाले भू-स्वामियों के वर्ग से नहीं आते। इनमें वैसे लोग शामिल हैं जो असैनिक तथा सेना की सेवाओं से रिटायर हुए हैं और जिन्होंने अपनी बचत को कृषि फार्म में लगाया है। 'सज्जन किसान' के आगमन की यही कहानी है।

यह समूह उन शिक्षित लोगों को भी आकर्षित कर रहा है जो कृषि को अपना व्यवसाय बनाना चाहते हैं। खेती से प्राप्त मुनाफे में वृद्धि ही इसका मुख्य कारण है। अब कृषि फार्म को आधुनिक संगठन की सभी विशेषताओं के साथ व्यापार की भांति चलाया जा रहा है। इस दृष्टि से परंपरागत कृषि व्यवस्था और इस नई उदित व्यवस्था में काफी अंतर है।

पूंजीपति किसान

भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद पूंजीपति किसानों का आविर्भाव भी महत्त्व की बात है। भारतीय कृषि में किस हद तक पूंजीवाद का प्रवेश हुआ है — इस प्रश्न पर अब तक बहस चल रही है, परंतु उद्योग की तरह कृषि में भी पूंजीवादी विकास की प्रवृत्ति स्पष्ट झलक रही है। श्रम–आधारित पूंजीवादी कृषि-व्यवस्था ने परंपरागत प्रथाओं पर आधारित भूमि संबंध को बदल दिया है। कृषक पारिवारिक फार्म से हट कर वाणिज्यिक पूंजीवादी फार्म का चलन स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

धनी किसानों का एक शक्तिशाली वर्ग निस्संदेह पहले भी था, परंतु उसे पूंजीपति किसानों की श्रेणी में रखना उचित नहीं होगा, क्योंकि कृषि में पूंजीवादी प्रवृत्ति का प्रवेश नहीं के बराबर था। हाल में कृषि क्षेत्र में भूमि–सुधारों के अतिरिक्त कई अन्य शक्तियां भी कार्यरत हैं। नई प्रौद्योगिकी के प्रवेश के साथ–साथ कृषि विकास के कई कार्यक्रमों ने धनी किसानों के एक छोटे समूह को शक्तिशाली व्यापारिक एवं पूंजीपति किसान के रूप में उभरने में मदद की है। इन किसानों ने उन्नत बीज, उर्वरक, उन्नत औज़ार, सिंचाई और ऋण की सुविधाओं के साथ–साथ संशोधित यातायात एवं संचार की व्यवस्थाओं जैसे संसाधनों का भरपूर लाभ उठाया है। पूंजीपति किसान अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए श्रमिकों को किराए पर लेते हैं। पूंजीपति किसानों द्वारा काम में लगाए गए मज़दूर ही असली खेत जोतने वाले हैं। पूंजीपति किसान केवल अधिकतम मुनाफे के लिए कृषि से जुड़े होते हैं। इस प्रकार कृषि उत्पादन से हुई बचत को पुनः बाज़ार में निवेश किया जा रहा है।

देश में पूंजीपति किसान वर्ग का आकार अभी भी छोटा है। किंतु इसकी उत्पत्ति तथा विकास कृषि सामाजिक संरचना में हो रहे प्रमुख परिवर्तन को प्रदर्शित करते हैं। इस वर्ग के विकास ने न केवल कृषि में कार्यक्षमता और उत्पादकता बढ़ाई है, बल्कि औद्योगिक वृद्धि एवं विकास में भी सहायता की है। लेकिन इस प्रवृत्ति का दूसरा पक्ष भी है। इस प्रवृत्ति ने धनी और निर्धन किसानों के बीच की दूरी बढ़ाई है। कृषक वर्गों के उच्च और निम्न स्तर के कृषकों के बीच असमानता तीव्र हुई है जिससे ग्रामीण इलाकों में अशांति और तनावग्रस्तता पैदा हुई है।

प्रभावी मध्यम जातीय किसान

देश के सभी भागों में भूमि–सुधार एवं हरित क्रांति का एक समान प्रभाव नहीं पड़ा है। किसी विशेष क्षेत्र में कुछ विशेष वर्ग के लोग दूसरों से अधिक लाभान्वित हुए हैं। जहां प्रत्येक प्रदेश में बड़ी जोतों (बढ़े खेत) के स्वामियों ने सबसे अधिक मुनाफा कमाया है, वहीं इन लाभों में छोटे किसानों का हिस्सा हर इलाके में सीमित रहा है। फिर भी, पूरे देश में मध्यम किसान ही इसके असली लाभ लेने वाले रहे हैं। यहां यह प्रश्न स्वाभाविक है कि ऐसा क्यों हुआ है ?

इस प्रश्न का उत्तर हमें भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में मध्यम किसानों की प्रकृति तथा उसकी रचना में मिलता है। मध्यम किसान सामान्यत: मध्यम जातीय समूहों के होते हैं। यद्यपि जातियों का अखिल भारतीय संस्तरण नहीं है, किंतु फिर भी कुछ स्तरों को चिह्नित किया जा सकता है जिन्हें हम मध्यम जाति कह सकते हैं। वे सभी जातियां जो ऊंची जातियों के नीचे परंतु निम्न व अनुसूचित जातियों से ऊपर अवस्थित हैं, मध्य जातियों की श्रेणी के अंतर्गत आती हैं। यह सजातीय समूह नहीं है मगर इनमें कुछ समान विशेषताएं विद्यमान हैं इसलिए इन्हें एक श्रेणी के अंदर सम्मिलित किया जा सकता है। मध्यम जातियों की कुछ प्रमुख विशेषताओं की चर्चा नीचे की गई है।

प्रथमत:, स्थानीय जातीय संस्तरण में उनका स्थान ऊंचा होता है। छुआछूत और भेदभाव जैसी सामाजिक निर्योग्ताएं उन पर लागू नहीं होतीं। दूसरा, इस श्रेणी की अधिकांश जातियां परंपरागत कृषक जातियां हैं। वे स्वयं खेती करने वाले मध्यम जोतों (खेतों) के स्वामी होते हैं। तीसरा, ऊंची जातियों के विपरीत, ये जातियां प्रत्यक्ष रूप से कृषि कार्यों में भाग लेती हैं। अंतत:, स्थानीय स्तर पर जनसंख्या की दृष्टि से इनका आधिपत्य होता है। वस्तुत: मध्यम वर्गीय जातियां एम. एन. श्रीनिवास द्वारा प्रतिपादित 'प्रभुजाति' की अवधारणा के समान ही है। इन दोनों श्रेणियों की अधिकांश विशेषताएं समान हैं, परंतु जातीय संस्तरण में इनकी स्थिति एक जैसी नहीं है। एक प्रभुजाति दोनों उच्च अथवा मध्यम जातीय समूहों की हो सकती है, परंतु मध्यम जातियों के साथ ऐसा नहीं है।

मध्यम जातियां ही प्रभावी मध्यम जातीय किसान वर्ग के रूप में उभरी हैं। इन्होंने भूमि-सुधार और हरित क्रांति का अधिकतम लाभ उठाया है। ज़मींदारी, जागीरदारी जैसे मध्यस्थ वर्गों के उन्मूलन के समय बड़े पैमाने पर ज़मीन का हस्तांतरण हुआ था। इस ज़मीन के अधिकांश हिस्सों को मध्यम जाति के लोगों ने खरीदा था। दूसरे, जब ऊंची जातियों के लोग गांवों से बड़ी संख्या में शहर चले गए तब उनके द्वारा बेची गई जमीन भी इन लोगों ने ही खरीदी। अंतत: कृषि विकास के नए कार्यक्रमों ने भी मध्यम जातियों को अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने में सहायता पहुंचाई। वास्तव में इनकी कृषक पृष्ठभूमि ने इन्हें दोहरा फायदा पहुंचाया। इस प्रकार मध्यम जातियों ने कम समय में ही आर्थिक संपन्नता हासिल कर ली है।

बढ़ी आर्थिक संपन्नता ने मध्यम जातियों के प्रभाव को राजनीतिक क्षेत्र तक फैलाने में सहायता पहुंचाई है। यहां भी इनकी जनसंख्या की शक्ति ने इन्हें राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त करने में मदद की है। बिहार एवं उत्तर प्रदेश में यादव (अहीर) तथा कुर्मी, कर्नाटक में वक्कालिगा, आंध्र प्रदेश में कम्मा तथा रेड्डी जैसी जातियों की अभूतपूर्व उन्नत दशा इस प्रवृत्ति की द्योतक है। इस प्रकार प्रभावी मध्य जातीय किसानों का उदय भारत के ग्रामीण क्षेत्रों की बदलती तस्वीर को प्रतिबिंबित करता है।

नव समूहों और वर्गों की उत्पत्ति से संबंधित अब तक की विवेचना मुख्यत: ग्रामीण क्षेत्रों तक ही सीमित रही है। अब हम नगरीय तथा औद्योगिक क्षेत्रों की चर्चा करें जहां कई नए समूह तथा वर्ग दृष्टिगोचर हो रहे हैं। परंतु इससे पूर्व कि हम नगरीय समूहों की चर्चा करें, इससे संबंधित एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर ध्यान देना ज़रूरी है। ग्रामीण क्षेत्रों के समूह तथा वर्ग, जिनकी चर्चा हमने ऊपर की है, स्पष्टतया इस अर्थ में नए हैं कि वे हाल में ही सामने आए हैं, किंतु नगरीय क्षेत्रों की स्थिति मूलत: अलग हैं, क्योंकि ये समूह और वर्ग सही अर्थ में नए नहीं हैं। औद्योगिक-नगरीय इलाकों में इनका आगमन काफी पहले हो चुका था, परंतु आज आकार तथा भूमिका दोनों दृष्टियों से इनकी स्थिति मज़बूत हुई है। इस

सीमा के बावजूद हम इनमें से कुछ समूहों के बदलते स्वरूप को परिवर्तन की प्रकृति के अनुसार देखने का प्रयास करेंगे।

व्यवसायी अभिजात वर्ग

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से भारत में एक उद्यमी वर्ग अथवा व्यवसायी अभिजात वर्ग का उभरना प्रारंभ हुआ। यद्यपि ब्रिटिश शासन के पहले देश में उद्यमशील व्यवसायियों और व्यापारियों का एक समूह विद्यमान था, परंतु नया व्यवसायी अभिजात वर्ग इस काल में ही उभर कर सामने आया। परंपरा से अधिकांश व्यवसायी व्यापारी जातियों एवं समुदायों के थे, किंतु जब भारतीय अर्थव्यवस्था का ब्रिटिश व्यवस्था से संबंध स्थापित हुआ, अन्य जातियों के लोग भी व्यापारीय उद्यमों में शामिल हुए। अधिकांश व्यापारिक फर्म अंग्रेज़ों के नियंत्रण में थीं, अतः भारतीय व्यवसाय मुख्यतः अंग्रेज़ी फर्मों से जुड़ा था। व्यवसायियों का यह समूह मुख्यतः व्यापारिक एजेंट था, औद्योगिक उद्यमी नहीं। इसके अतिरिक्त, वे मुख्यतया कोलकाता, मुंबई और चेन्नई क्षेत्रों में अवस्थित थे, क्योंकि व्यापारिक एवं औद्योगिक गतिविधियां इन्हीं क्षेत्रों में केंद्रित थीं। इस समूह के लोग मुख्यतः ऊंची जातियों से आए थे। उदाहरण के लिए, कोलकाता में जैन, बनियों और कायस्थों का बोलबाला था, मुंबई में पारसी और जैनों का तथा चेन्नई क्षेत्र में चेट्टियारों का व्यवसाय पर नियंत्रण था।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में भारतीय औद्योगिक उद्यमी अंग्रेज़ों से मुकाबला करने लगे। व्यवसायी अभिजात वर्ग में गुजराती, पारसी तथा मारवाड़ी प्रभावशाली समूह के रूप में उभरे। समाजशास्त्रीय अध्ययनों ने व्यवसायी अभिजात वर्ग की दो प्रधान विशेषताओं की चर्चा की है। प्रथमतः, इस वर्ग के अधिकांश सदस्य पारंपरिक व्यापारी जातियों के सदस्य हैं और इस अर्थ में विगत परंपरा के साथ निरंतरता बनी हुई है। दूसरे, इस समूह का भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के साथ घनिष्ठ संबंध रहा है। ये विशेषताएं, जैसा कि योगेंद्र सिंह ने कहा है, "भारत के आधुनिकीकरण में व्यावसायिक अभिजात वर्ग की भूमिका को प्रभावित कर रही हैं।"

स्वतंत्रता के बाद, व्यवसायी अभिजात वर्ग का आकार तथा उसकी भूमिका काफी बढ़ी है। यह मुख्यतः पिछले कुछ दशकों में औद्योगिक क्रिया-कलापों के विस्तार के कारण हुआ है। अब औद्योगिक व्यवसायी समूह अपने कारोबार को आधुनिक वैज्ञानिक तरीकों से संगठित कर रहे हैं और इनकी तुलना देश के बाहर उनके समकक्ष लोगों के साथ की जा सकती है। प्रशिक्षित मैनेजर इनके संगठनों का संचालन करते हैं। फलस्वरूप, इस प्रकार का नौकरशाही ढांचा उभरा है जो औद्योगिक नौकरशाहों का एक नया वर्ग खड़ा कर रहा है।

व्यवसायी अभिजात वर्ग का तीव्र विकास लोगों की उद्यमी प्रेरणा में आए महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का द्योतक है। विभिन्न सामाजिक समूह और जातियों के सदस्यों के इस क्षेत्र में प्रवेश से धीरे-धीरे इस वर्ग का विस्तार हो रहा है। पिछड़े इलाकों के औद्योगिक विकास में इस प्रवृत्ति को देखा जा सकता है।

नव मध्यम वर्ग

भारत में आर्थिक उदारीकरण के इस काल में नव मध्यम वर्ग का उदय एक रोचक तथ्य है। अकादमिक अध्ययनों ने पूर्व में निःसंदेह भारतीय मध्यम वर्ग के स्वरूप का विश्लेषण किया था, परंतु इस नव मध्यम वर्ग के उभरने की ओर समाज विज्ञानियों का ध्यान हाल ही में गया है।

भारतीय मध्यम वर्गों पर अपने ख्याति प्राप्त अध्ययन में बी. बी. मिश्र ने कहा है कि सरकारी

कर्मचारियों, वकीलों, कॉलेज-शिक्षकों तथा डॉक्टरों जैसे शिक्षित व्यवसायों के सदस्यगण मुख्यत: भारतीय मध्यम वर्गों की श्रेणी में शामिल हैं। उन्होंने व्यापारियों के समूह, आधुनिक व्यापारिक फर्मों के एजेंटों, बैंक एवं व्यापार के वेतनभोगी प्रशासकों तथा मध्यवर्ती स्तरों के भू-स्वामी किसानों को भी इसी वर्ग में सम्मिलित किया था। समकालीन भारत में मध्यम वर्ग की भूमिका को समझने के लिए मध्यम वर्ग की इस अवधारणा का बोलबाला वर्षों तक रहा है।

ऐसा तर्क दिया गया है कि स्वतंत्रता के कुछ वर्षों तक मध्यम वर्ग का आर्थिक लक्ष्य संपूर्ण राष्ट्र के प्रति व्यापक नैतिक तथा आचरण संबंधी उत्तरदायित्व में समाहित था। एक निर्धन देश में भौतिकवादी प्रदर्शन पर रोक आदर्श था जो मध्यम वर्ग के चरित्र में झलकता था। परंतु आज इस वर्ग के मूल चरित्र में व्यापक परिवर्तन हुए हैं। उदाहरण के लिए, पवन वर्मा ने अपनी पुस्तक 'द ग्रेट इंडियन मिडिल क्लास' में भारतीय वर्ग में गिरते सामाजिक उत्तरदायित्व पर एक रोचक बहस की शुरुआत की है। इस संदर्भ में ही भारत में नव मध्यम वर्ग का विचार सामने आया है।

आज की उपभोक्तावादी संस्कृति ने नव मध्यम वर्ग को जन्म दिया है। भारत में सन 1990 में प्रारंभ हुए आर्थिक उदारीकरण ने मध्यम वर्ग को एक काफी बड़े बाज़ार के रूप में रेखांकित किया है जिस पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों की नज़र है। मुद्रित संचार और टेलीविजन द्वारा नगरीय मध्यम वर्ग की तस्वीर को एक संपन्न उपभोक्ता के रूप में उभारा गया है। सेलुलर फोन, कार, धुलाई मशीन, रंगीन टेलीविजन जैसी उपभोग सामग्रियों के प्रचार ने नवीन मध्य वर्गीय संस्कृति को उभारा है। विज्ञापनों से बने कल्पित चित्र ने नव मध्यम वर्ग के स्वरूप के निर्माण में और भी अधिक मदद पहुंचाई है।

नव मध्यम वर्ग ने सादगी तथा सरकारी संरक्षण पर निर्भरता को दरकिनार कर दिया है। मध्यम वर्ग रूचि तथा उपभोग से संबंधित नए सामाजिक व्यवहारों एवं सांस्कृतिक प्रतिमानों को अंगीकार करने में लगा हुआ है। अत: मध्यम वर्ग की 'नवीनता' एक नई विचारधारा को अपनाने में है न कि भारतीय मध्यम वर्ग के सामाजिक आधार के बदले जाने में।

नव मध्यम वर्ग के आलोचकों ने इसके नकारात्मक प्रभावों की ओर ध्यान दिलाया है। मध्यम वर्गीय उपभोक्तावाद पर्यावरण को भ्रष्ट कर रहा है। साथ ही यह वर्ग इस देश की सामाजिक-आर्थिक समस्याओं के प्रति उदासीन है। फिर भी उदारीकरण के प्रस्तावकों ने इस नव मध्यम वर्ग को भारत के भूमंडलीकरण के लिए एक आदर्श वर्ग के रूप में प्रायोजित किया है।

भूमंडलीकरण और उदारीकरण

भूमंडलीकरण की घटना ने अस्सी के दशक से काफी अभिरुचि जगाई है। हम सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में इस पर चर्चा करेंगे।

भूमंडलीकरण समकालीन विश्व की विशिष्टताओं में एक है। इस शब्द का प्रयोग मुख्यत: आर्थिक अर्थ में किया जाता है। इस दृष्टि से, भूमंडलीकरण मुक्त बाजार की स्थिति में विश्व की अर्थव्यवस्थाओं के एकीकरण की प्रक्रिया है। मुक्त बाज़ार में व्यापार और पूंजी का मुक्त प्रवाह है तथा लोगों का राष्ट्रीय सीमाओं के पार आना-जाना शामिल है। अतएव, भूमंडलीकरण की पहचान नई विश्व व्यापार व्यवस्था तथा व्यावसायिक बाज़ारों के खुलने से है। विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी ने भूमंडलीकरण के प्रसार में काफी मदद की है। इस संपूर्ण प्रक्रिया को सूचना के तत्काल प्रसार के लिए विकसित तकनीक ने सरल बना दिया है।

ऐतिहासिक दृष्टि से विश्व ने उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में भी

आर्थिक एकीकरण का अनुभव किया था। परंतु विश्व युद्धों, आर्थिक मंदी और लोगों के आवागमन पर रोक के कारण लगभग सन 1970 तक इस प्रक्रिया में अवरोध रहा। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया को पिछले दो दशकों के दौरान एक नया प्रोत्साहन मिला है।

बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा उत्पादन का अंतर्राष्ट्रीयकरण बड़े पैमाने पर हो रहा है। एक देश में स्थित कंपनी जो कई देशों में कार्य कर रही होती है उसे बहुराष्ट्रीय अथवा पराराष्ट्रीय निगम कहते हैं। बहुराष्ट्रीय निगमों से संबद्ध हज़ारों कंपनियां दुनिया के विभिन्न भागों में फैली होती हैं। एक आकलन के अनुसार वर्ष 1998 में इन कंपनियों की कुल बिक्री विश्व व्यापार की करीब एक-तिहाई थी। ये निगम पूरे विश्व को एक बाज़ार समझते हैं न कि राष्ट्रीय बाज़ारों का एक झुंड।

इसके अतिरिक्त, विदेशी व्यापार की मात्रा बढ़ाने के उद्देश्य से कर एवं सीमा-शुल्क को घटाने तथा अन्य बाधाओं को दूर करने के परिणामस्वरूप देश की सीमाओं के बाहर व्यापार तेज़ी से बढ़ रहा है। यातायात एवं संचार पर होने वाले खर्च अपेक्षाकृत कम हो गए हैं। फलत: प्रौद्योगिकी की दृष्टि से विकसित कंपनियां और उद्यम अनेक देशों में विभिन्न स्थानों पर जा रहे हैं। भूमंडलीकरण ने बहुराष्ट्रीय निगमों के लिए नए रास्ते खोल दिए हैं। यह विकसित तथा विकासशील दोनों प्रकार के देशों के लिए नए अवसर प्रस्तुत कर रहा है। भूमंडलीकरण संपूर्ण संसार को एक विश्व-ग्राम में परिवर्तित कर रहा है।

भूमंडलीकरण की क्षमता

भूमंडलीकरण के प्रस्तावक इसका कई कारणों से समर्थन करते हैं, जिनमें से कुछ का विवेचन नीचे किया गया है।

भूमंडलीकरण की प्रक्रिया मुक्त बाज़ार के मुख्य सिद्धांत पर आधारित है। ऐसा माना जाता है कि यह मुक्त बाज़ारीकरण प्रतियोगिता उत्पन्न करता है और कार्य दक्षता बढ़ाता है जिसका नियंत्रित बाज़ारों में अभाव होता है। बढ़ी हुई कार्य दक्षता सामानों तथा सेवाओं की गुणवत्ता में सुधार लाती है। मुक्त बाजार विशेषकर पिछड़ी अर्थव्यवस्थाओं के विकास में सहायक है।

भूमंडलीकरण की स्थिति में आंतरिक अर्थव्यवस्था में विदेशी निवेश प्रचुर मात्रा में होता है जो इसे मज़बूत तथा तेज़ बनाता है। ये निवेश विशेषकर उन देशों को सहायता पहुंचाते हैं जो आंतरिक संसाधनों की कमी का सामना कर रहे होते हैं। इस प्रकार, विदेशी पूंजी तथा वस्तुओं के अनियंत्रित प्रवाह की मुक्त-द्वार नीति अपनाई जाती है जिससे अपेक्षा की जाती है कि यह तीसरी दुनिया की मंद अर्थव्यवस्था को प्रफुल्लित कर पाएगी।

भूमंडलीकरण रोज़गार के अवसरों में वृद्धि की गारंटी देता है। अधिक रोज़गार और अधिक आर्थिक विकास जनता के जीवन की गुणवत्ता को अधिक अच्छा बनाएंगे। अधिकांश विकासशील देशों के लिए बेरोज़गारी एक गंभीर समस्या बनी हुई है, अत: भूमंडलीकरण को इस समस्या के लिए संजीवनी के तौर पर प्रस्तुत किया जा रहा है।

यह माना जा रहा है कि अर्थव्यवस्था के एकीकरण से जो आर्थिक विकास होगा वह स्वत: सामाजिक न्याय के सवाल को सुलझा देगा। विश्व अर्थव्यवस्था की नवीन प्रक्रिया तथा विवेकशील क्रियाविधि वंचित समूहों के लिए सुरक्षा-जाल का प्रबंध करेगी। अत: ऐसा विश्वास किया जाता है कि अर्थव्यवस्था का उदारीकरण वंचित समूहों के लिए तबाही नहीं अपितु नई आशा लाएगा।

इसके अतिरिक्त, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भूमंडलीकरण व्यावसायिक हिस्सेदारों के बीच सहयोग तथा भाईचारा बढ़ाता है। सरकार के बीच भी यह सहयोग में वृद्धि करता है। यह सर्वसम्मति और साझेदारी पर आधारित

एक नवीन विश्व व्यवस्था के निर्माण की कल्पना करता है। ऐसा माना जा रहा है कि यह राष्ट्रों के बीच आदान-प्रदान तथा एक स्थापना के माध्यम से विश्व शांति और मैत्री का युग लाएगा।

भूमंडलीकरण के परिणाम

वर्ष 1999 के संयुक्त राष्ट्र के एक अध्ययन के अनुसार भूमंडलीकरण का युग विश्व के लाखों लोगों के लिए अवसरों का द्वार खोल रहा है। इस अध्ययन का सुझाव है कि इक्कीसवीं शताब्दी में निर्धनता के उन्मूलन के लिए भूमंडलीकरण में बहुत अधिक क्षमता है।

परंतु विकासशील देशों में भूमंडलीकरण के अब तक के अनुभव इस तथ्य की पुष्टि नहीं करते। यह उन देशों के लिए गंभीर खतरा उत्पन्न कर रहा है जो अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पद्र्धा करने में सक्षम नहीं हैं। भूमंडलीकरण के नकारात्मक परिणाम सकारात्मक परिणामों की अपेक्षा अधिक प्रबल हैं। व्यापार में वृद्धि, नई प्रौद्योगिकी, विदेशी निवेश और इंटरनेट के विस्तार ने निःसंदेह विश्व में आर्थिक विकास की गति को बढ़ाया है, परंतु विभिन्न देशों को आर्थिक विकास का लाभ समान रूप से नहीं मिला है। इस मौलिक कमज़ोरी से कई समस्याएं उत्पन्न हो रही हैं।

भूमंडलीकरण के अंतर्गत आर्थिक प्रक्रिया बाज़ार के विस्तार से जुड़ी होती है। राष्ट्रीय बाज़ार का विकास बाज़ार के सिद्धांतों के आधार पर विश्व व्यवस्था से एकीकृत होता है। बाज़ार व्यवस्था सदैव मुनाफे की खोज में लगी रहती है। मुक्त प्रतियोगी बाज़ार कार्यकुशलता की गारंटी तो दे सकता है, परंतु अनिवार्य रूप से समानता को सुनिश्चित नहीं रख सकता। अतः बाज़ार व्यवस्था में इन 'अदृश्य हाथों' पर अपार विश्वास विश्व को असहनीय असमानता के अनेक स्तरों की ओर ढकेल रहा है। सही कहा गया है कि 'मानवीय विकास में बाज़ार न तो पहला और न ही अंतिम संदेश है।' कई कार्य और वस्तुएं मानवीय विकास के लिए आवश्यक होती हैं, परंतु आज वे सभी विश्व बाज़ार के दबाव से उपेक्षित हो रहे हैं। यह उन इलाकों में अधिक स्पष्ट है जहां हाल के दशकों में बाज़ार की सीमाएं पहुंची हैं जैसे– अफ्रीका तथा एशिया। फैलते बाज़ार के परिणामस्वरूप शहरों की ओर प्रवसन, नगरीय जीवन की मूल्यहीनता, वृहत परिवारों के विघटन तथा मानवीय प्रेरणा के आधार के रूप में भावुकता के स्थान पर धन आदि जैसी प्रवृत्तियों में बढ़ोत्तरी हुई है।

आज विश्व पूंजीवाद नियंत्रणों से अपेक्षाकृत मुक्त है। परंतु उसे शक्तिशाली पूंजीवादी राष्ट्रों का समर्थन प्राप्त है। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक तथा विश्व व्यापार संगठन जैसे अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थानों ने विश्व पूंजीवाद की विचारधारा को प्रबल बनाया है। ये देश तथा संगठन विश्व बाज़ार के लिए राजनीतिक एवं कानूनी स्थितियों का निर्माण करते हैं। इन स्थितियों के निर्माण के लिए कई कदम उठाए गए हैं – (क) अंतर्राष्ट्रीय व्यापार एवं सेवाओं की बाधाओं का निराकरण, (ख) पूंजी का स्थानांतरण, (ग) संपत्ति के अधिकारों की विश्व के पैमाने पर सुरक्षा, (घ) राज्य की कंपनियों का निजीकरण, (ङ) व्यावसायिक कार्यों का अनियमन, तथा (च) कल्याण सेवाओं को क्रमशः समाप्त करना। इन सभी कदमों ने जनता को आवश्यक सामाजिक सेवाएं प्रदान करने की राष्ट्रों की क्षमता को घटा दिया है। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक द्वारा अफ्रीका, एशिया तथा दक्षिण पैसिफिक में लागू किए गए संरचनात्मक समायोजन की नीति का प्रभाव महाविपदा से कम नहीं रहा है। इन देशों ने अपनी जनसंख्या के वंचित समूहों के लिए उपलब्ध शिक्षा, स्वास्थ्य एवं पोषण को घटा दिया है। इन सुविधाओं को केवल

सुविधा प्राप्त व्यक्तियों तक ही सीमित रखा गया है। यहां तक कि यूरोप में भी जहां कल्याणकारी राज्य की अवधारणा का जन्म हुआ था, इन सुविधाओं में कमी आई है।

आज विकासशील देशों के लिए लाभ एवं अवसरों की अपेक्षा खतरे अधिक हैं। रोज़गार पर इसका सबसे अधिक असर पड़ा है। उदाहरण के लिए, एशिया के देशों में जहां 1997-98 मंदी का दौर था, बेरोज़गारी दुगुनी हो गई थी। आज के श्रम-बाज़ार में मज़दूरी सामान्यतः कम है। रोज़गार के लिए तीव्र प्रतिस्पर्धा की स्थिति में अधिकांश देशों में श्रमिकों में सौदेबाज़ी की क्षमता कम हो गई है। संपूर्ण लैटिन अमरीका तथा अफ्रीका में जो वास्तविक मजदूरी बीस वर्ष पहले मिलती थी, वह भी आज नहीं मिल रही है।

रोज़गार के पर्याप्त अवसरों की उत्पत्ति में असफलता के कारण गरीबी घटाने के आसार भी नज़र नहीं आ रहे हैं। गरीबी में रहने वाले लोगों की संख्या 1990 के दशक के मध्य में कुछ घटी थी, परंतु फिर करीब-करीब सभी देशों में यह बढ़नी प्रारंभ हो गई है। इसका कारण यह नहीं है कि संपूर्ण संसार क्रमशः गरीब होता जा रहा है बल्कि कारण यह है कि विकास का लाभ समान रूप से नहीं मिल रहा है। वस्तुतः पिछले दशकों में असमानता में काफी वृद्धि हुई है। विकासशील देशों में धनी लोग सहजता से इस नए वातावरण के साथ सामंजस्य स्थापित कर सकते हैं, परंतु गरीब दिनों-दिन गरीब होते जा रहे हैं।

इसके अतिरिक्त आर्थिक भूमंडलीकरण केवल इसलिए संदेहात्मक नहीं है कि यह राष्ट्रों के बीच आर्थिक संबंधों को जटिल बनाता है, बल्कि यह आर्थिक सत्ता बहुराष्ट्रीय निगमों के हाथ में केंद्रित करता है। आर्थिक सत्ता का यह केंद्रीकरण राजनीतिक एवं सामाजिक सत्ता को भी एकत्र करता है। इस प्रकार भूमंडलीकरण सामान्य नागरिकों के सामाजिक तथा आर्थिक अधिकारों को सीमित करता है। यह सामाजिक नीति पर प्रभाव डालता है तथा राज्य की भूमिका को कम करता है।

इस पृष्ठभूमि में ही राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर बाह्य शर्तों के थोपे जाने के विरुद्ध जनता के स्तर पर आंदोलन उभरे हैं। विकासशील देशों की जनता कृषि, सेवाओं तथा पेटेंट अधिकारों जैसे सवालों पर चल रहे अंतर्राष्ट्रीय समझौतों से चिंतित है। चिंता इस बात से है कि क्या इन समझौतों में विकासशील देशों के साथ न्याय होगा। ये समझौते एवं अनुबंध जो कि विश्व व्यापार संगठन के तत्वावधान में चल रहे हैं, जो कि विश्व व्यवस्था की कानूनी एवं संस्थागत समिति है। इसके सभी सदस्य देशों (सरकारों) को संगठन के नियमों तथा अनुशासन को मानना आवश्यक है।

उदारीकरण

भूमंडलीकरण उदारीकरण की प्रक्रिया से घनिष्टता से जुड़ा है। उदारीकरण भूमंडलीकरण का आर्थिक तत्त्व है। यह एक प्रक्रिया है जिसके अंतर्गत एक अत्यंत नियंत्रित अर्थव्यवस्था खुली दिखने वाली व्यवस्था के रूप में परिवर्तित की जाती है। नियंत्रण एवं संचालन को कम कर आंतरिक अर्थव्यवस्था को उदार बनाया जाता है। अधिकांश कार्य क्षेत्रों से राज्य का महत्त्व घटा कर निजी उद्यमों तथा कंपनियों के लिए मार्ग प्रशस्त किया जाता है। सार्वजनिक इकाइयों को समाप्त कर व्यवसाय एवं उद्योग का निजीकरण होता है। मूलतः उदारीकरण का विचार इस सोच पर निर्भर है कि यदि राज्य का हस्तक्षेप कम हो तो अर्थव्यवस्था एवं समाज बेहतर बनेगा। इसे 'कम राज्य, अच्छा राज्य' जैसे नारों के द्वारा लोकप्रिय बनाया गया है।

जैसा कि हमने उल्लेख किया है, भूमंडलीकरण की प्रक्रिया विश्व की अर्थव्यवस्थाओं को एक साथ

जोड़ रही है। अर्थव्यवस्थाओं में एकीकरण की इस प्रक्रिया को उदारीकरण तथा निजीकरण के द्वारा सुगम बनाया जाता है। दूसरे शब्दों में, विभिन्न देशों को अपनी अर्थव्यवस्थाओं पर कम-से-कम सरकारी नियंत्रण रख कर उसे उदार बनाना होगा। उदारीकरण की नीति अर्थव्यवस्था की कार्यकुशलता पर ज़ोर डालती है। निजी उद्यमों को सार्वजनिक उद्यमों की तुलना में अधिक निपुण माना जाता है।

भारत में भूमंडलीकरण तथा उदारीकरण की चुनौतियां

आधुनिक दुनिया में भूमंडलीकरण तथा उदारीकरण की प्रक्रियाएं अत्यंत व्यापक एवं गहरा प्रभाव डाल रही हैं। इस स्थिति में भारत भी इन प्रक्रियाओं की चुनौतियों का सामना कर रहा है। वर्ष 1991 से देश में काफी परिवर्तन हुए हैं। नियंत्रित एवं आंतरिक दृष्टि रखनेवाली अर्थव्यवस्था बाह्य दृष्टि वाली हो रही है। अधिकांश कार्यक्षेत्रों में राज्य का स्थान निजी उद्यम ले रहे हैं।

आप इस स्थिति को एक उदाहरण द्वारा ज़्यादा ठीक ढंग से समझ पाएंगे। भारतीय अर्थव्यवस्था ने मिश्रित अर्थव्यवस्था के मॉडल को स्वीकार किया है। इसे मिश्रित इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इसके अंतर्गत दो क्षेत्र हैं – निजी तथा सार्वजनिक। सार्वजनिक क्षेत्र पूर्णत: राज्य के नियंत्रण में रहता है, जबकि निजी क्षेत्र में व्यक्तिगत स्वामित्व वाले उद्यम सम्मिलित हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। अधिकांश कार्यक्षेत्रों में राज्य की उपस्थिति रहती आई है। राज्य का नियंत्रण एवं संचालन व्यापक रहा है और यह कई दृष्टियों से निजी क्षेत्र के उद्योगों को भी प्रभावित करता रहता है। बहुत से लाइसेंसों और परमिटों द्वारा निजी उद्योगों को नियंत्रित किया जाता रहा है। वास्तव में यह तरीका इतना व्यापक रहा है कि इसको अक्सर 'कोटा परमिट राज' कहा जाता था।

संचालन और नियंत्रण की इस व्यवस्था पर उदारीकरण के समय चोट की गई है। भारत में 1991 के आसपास अर्थव्यवस्था में कई संरचनात्मक परिवर्तनों के द्वारा उदारीकरण की प्रक्रिया का शुभारंभ हुआ। नीतिगत सुधारों ने अर्थव्यवस्था को उदार बना दिया है। सुधारों के पहले चरण (1991-94) में व्यापार और उद्योग से नियंत्रण एवं संचालन को विघटित करने पर ध्यान दिया गया है। कर एवं सीमा-शुल्क को घटाया गया है। इन सभी कदमों ने घरेलू तथा विदेशी दोनों निजी निवेशों के लिए उपयुक्त वातावरण का निर्माण किया है। इस प्रकार उदारीकरण के कारण अनुदार अर्थव्यवस्था का उदार एवं निर्यातोन्मुखी अर्थव्यवस्था में रूपांतरण हुआ।

सुधार के दूसरे चरण में उदारीकरण तथा निजीकरण की प्रक्रिया और भी तीव्र हुई है। इस चरण में दो मुख्य बातें हो रही हैं – प्रत्यक्ष विदेशी निवेश को अधिक बढ़ावा दिया जा रहा है तथा सार्वजनिक क्षेत्र के आकार को छोटा किया जा रहा है। भारत एक बड़ा बाज़ार है। सभी प्रकार के परिणामात्मक अवरोधों को 1 अप्रैल 2001 से समाप्त कर दिया गया है और अब बाज़ार विदेशी सामानों के लिए खुला हुआ है। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों में न केवल विनिवेश प्रारंभ हो गया है, बल्कि कई निगम निजी उद्यमियों को बेच भी दिए गए हैं।

भारत ने उदारीकरण के बाद का पहला दशक संतोषजनक विकास दर के साथ पूरा कर लिया है। मुद्रास्फीति को नियंत्रित कर लिया गया है। उद्योग अब बाहरी शक्तियों से सुरक्षित नहीं है। हाल में, सूचना तकनीक के क्षेत्र में भारतीय व्यवसायियों की गुणवत्ता सिद्ध हो चुकी है जिनकी मांग विश्व के विकसित देशों में काफी है। यह अपेक्षा

की जा रही है कि आने वाले वर्षों में सूचना तकनीक से संबंधित सेवाओं से अर्थव्यवस्था को काफी बढ़ावा मिलेगा।

उदारीकरण के समय की उपलब्धियों के होते हुए भी आगे संकटपूर्ण चुनौतियां खड़ी हैं। गरीबी सबसे महत्त्वपूर्ण चुनौती के रूप में कायम है। करीब 26.10 प्रतिशत लोग आज भी गरीबी रेखा के नीचे हैं। रोज़गार की स्थिति भयंकर एवं गंभीर बनी हुई है। पिछले दशक में नौकरियों से काफी छंटनी हुई है, क्योंकि कंपनियों ने अपने आकार को या तो लघु बनाया है या प्रतिस्पर्धा की कठोरता का सामना करने के लिए वे एक-दूसरे से मिल गए हैं। यह तब हो रहा है जब भारतीय अर्थव्यवस्था पर्याप्त रोज़गार देने में समर्थ नहीं है। पूर्ण रोज़गार, संपूर्ण साक्षरता, प्राथमिक शिक्षा, स्वास्थ्य सेवा और सभी नागरिकों के जीवन स्तर की गुणवत्ता में सुधार जैसे चुनौती भरे कार्यों को पूरा करना अभी शेष है।

निजीकरण महिलाओं को कई दृष्टियों से प्रभावित कर रहा है। कृषि एवं उद्योग में परिष्कृत तकनीक के प्रवेश ने रोज़गार के अवसरों को घटाना प्रारंभ कर दिया है। भारत में महिलाएं हस्तकला एवं गृह उद्योगों में लाभदायक ढंग से कार्य करती रही हैं। वे मुख्य रूप से असंगठित क्षेत्र में काम करती रही हैं। आर्थिक उदारीकरण ने इस क्षेत्र को भी प्रभावित किया है। यह क्षेत्र स्थानीय बाज़ारों में यंत्रचालित उत्पादों एवं इन उत्पादों के बड़े उत्पादकों के प्रवेश से जोखिम में पड़ गया है।

इस परिस्थिति में आज भूमंडलीकरण की चुनौती यह है कि किस प्रकार नियमों एवं संस्थाओं को सशक्त बना कर विश्व बाज़ार के लाभों को सुरक्षित रखा जाए। इन संस्थाओं को रूपांतरित करते समय देश को मानवीय एवं सामुदायिक संसाधनों के लिए पर्याप्त गुंजाइश छोड़नी होगी। यह सुनिश्चित करना आवश्यक है कि भूमंडलीकरण जनता के लिए है, क्योंकि भूमंडलीकरण से उत्पन्न खतरे एवं चुनौतियों के बावजूद कोई भी देश भूमंडलीकरण के अभियान को रोकने में सक्षम नहीं हो पाएगा।

शब्दावली

भू-धारण या काश्तकारी : भूमि अथवा अन्य संपत्ति का कानूनी अधिकार। यह राज्य एवं प्रशासन को राजस्व एकत्रित करने में सहायक होता है। रैयतवाड़ी, महलवाड़ी एवं ज़मींदारी भू-धारण की व्यवस्थाएं थीं जो कि स्वतंत्रता पूर्व भारत में थीं।

उत्पादन का अंतर्राष्ट्रीयकरण: बहुदेशीय कंपनियों द्वारा उत्पादन का दुनिया के विभिन्न भागों में वितरण।

भूमंडलीय ग्राम : व्यवसाय एवं संबंधों को बढ़ाने के लिए विभिन्न देशों में तकनीकी रूप से विकसित कंपनियों एवं उद्यमों की स्थापना जो कि पूरे विश्व को एक वैश्विक ग्राम में बदल रही है।

सामाजिक शक्ति (अधिकार) : यह वैश्वीकरण की अवधारणा से जुड़ी हुई है और सामान्य नागरिकों के सामाजिक एवं आर्थिक अधिकारों को सीमित करती हैं।

विश्व व्यापार संगठन (W.T.O.): यह एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन है जिसे संयुक्त राष्ट्र के सदस्य देशों ने स्थापित किया है। यह सन 1995 में स्थापित हुआ और इसका मुख्यालय जेनेवा में है। यह विभिन्न कानूनों एवं नीतियों द्वारा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार एवं सेवाओं का नियमन करता है।

निर्यातोन्मुखी आर्थिकी : इस आर्थिकी में अधिकांश उत्पादन निर्यात व्यापार एवं सेवाओं के लिए किया जाता है। बहुत से देश इस नीति को अधिक विदेशी मुद्रा अर्जित करने के लिए अपनाते हैं। यह देश की आवश्यकताओं को एवं पूंजी की कमी को पूरा करने में सहायक होता है।

अभ्यास प्रश्न

1. भूमंडलीकरण से आप क्या समझते हैं ?
2. भूमंडलीकरण के सकारात्मक एवं नकारात्मक प्रभावों की विवेचना कीजिए।
3. सज्जन किसानों के उदय के कारणों की विवेचना कीजिए।
4. पूंजीपति किसान कौन हैं ?
5. मध्यम जातीय किसानों की विशेषताएं क्या हैं ?
6. उदारीकरण पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।

संदर्भ-ग्रंथ

- सेठी, राजमोहिनी, (सं.), *ग्लोबलाइज़ेशन, कल्चर एंड विमेंस डेवलपमैंट*, रावत पब्लिकेशंस, जयपुर, 1999
- मिश्रा, बी. बी., *द इंडियन मिडिल क्लास*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1978
- हरल, एंड्रयू एंड नगौरी, वुड्स, (सं.), *इनइक्वेलिटी, ग्लोबलाइज़ेशन एंड वर्ल्ड पॉलिटिक्स*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, 1999
- वर्मा, पवन, *द ग्रेट इंडियन मिडिल क्लास*, विकास पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1998
- राम, नंदू, द *मोबाइल शिड्यूल्ड कास्ट्स: राइज़ ऑफ ए न्यू मिडिल क्लास*, हिंदुस्तान पब्लिशिंग कॉरपोरेशन, दिल्ली, 1988
- फर्नांडिस, लीला, *रीस्ट्रक्चरिंग द न्यू मिडिल क्लास इन लिबरलाइजिंग इंडिया, कंपैरेटिव स्टडी– साउथ एशिया, अफ्रीका एंड द मिडिल ईस्ट*, वॉल्यूम 20, अंक 1 और 2, 2000

शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन

संस्कृति समाज का सीखा हुआ पहलू है। यह सामाजिक संपत्ति है और समाज के सभी सदस्य इसके भागीदार होते हैं। इन सांस्कृतिक तत्त्वों को शिक्षा द्वारा सुरक्षित रखा जाता है और इन्हें एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक तथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक प्रसारित किया जाता है। इस प्रकार संस्कृति तथा शिक्षा के बीच प्रत्यक्ष संबंध है। संस्कृति समाज को विशिष्ट बनाती है, जबकि शिक्षा इसे पोषित करती है। समाज में शिक्षा की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। यह सामाजिक परिवर्तन के प्रवर्तक का कार्य संपादित करती है। यह न केवल नए विचारों तथा मूल्यों को जन्म देती है, बल्कि इन्हें शिक्षा द्वारा युवा पीढ़ी तक प्रसारित भी करती है। इस अध्याय में हम शिक्षा तथा सामाजिक परिवर्तन के संबंध की विवेचना करेंगे।

समाज और शिक्षा

समाज की आवश्यकताओं से शिक्षा की उत्पत्ति होती है। समाज का अस्तित्व व्यक्ति के जीवन से कहीं अधिक लंबा होता है। समय के अंतराल में एक व्यक्ति समाप्त हो जाता है, किंतु समाज का अस्तित्व बना रहता है और जन्म द्वारा नए सदस्य इसमें जुड़ते जाते हैं। अत: हर समाज एक इकाई के रूप में साथ रहने की कोशिश करता है और एक जीवन-पद्धति विकसित करता है। अपनी जीवन-पद्धति को निरंतर सुरक्षित रखने के लिए समूह के सदस्य, समूह के रीति-रिवाजों, ज्ञान तथा कौशल का प्रशिक्षण अपने बच्चों को देते हैं। शिक्षा यह कार्य संपन्न करती है। नए विचारों के विकास तथा बदलते परिवेश के साथ सामंजस्य बनाए रखने के लिए लोगों को शिक्षा ही प्रशिक्षित करती है।

शिक्षा में माता-पिता और परिवार की भूमिका अनौपचारिक होती है। इससे अधिक औपचारिक शिक्षा सामाजिक समूह तथा सामुदायिक माध्यमों से दी जाती है। विद्यालय सबसे अधिक औपचारिक शिक्षा प्रदान करते हैं, क्योंकि इस कार्य के लिए ही इनकी स्थापना होती है। अत: विशेष शिक्षा देने हेतु विद्यालय एक सामाजिक आवश्यकता बन गए हैं। यह व्यापक स्तर पर ज्ञान के संग्रह और प्रसारण को संभव बनाते हैं जो पूर्व में असंभव था।

इस प्रकार शिक्षा अनेक सामाजिक कार्य संपन्न करती है। इसका क्षेत्र परिवार में समाजीकरण की भूमिका से लेकर आर्थिक संगठन, सामाजिक स्तरीकरण तथा राजनीतिक विचारों तक व्याप्त है।

प्रत्येक समाज में बच्चों के समाजीकरण की प्रक्रिया परिवार से प्रारंभ होती है। एक सरल समाज में कौशल और ज्ञान सीधा तथा सामान्य होता है, व्यावसायिक भूमिका भी बच्चे घर में ही सीखते हैं। दूसरी ओर, आधुनिक जटिल समाजों में व्यावसायिक कार्यों में परिवर्तन से स्थिति काफी बदल गई है। बच्चों को जटिल कौशल और विशिष्ट कार्यों की शिक्षा

परिवार में नहीं दी जा सकती है। अतः परिवार की भूमिका केवल प्राथमिक समाजीकरण तक ही सीमित हो जाती है। औपचारिक शैक्षणिक संस्थाएं द्वितीय रूप में समाजीकरण के कार्यों को संपन्न करती हैं। शिक्षा मानदंडों, मूल्यों, विश्वासों, विचारों और सामाजिक कौशलों को समाजीकरण द्वारा नई पीढ़ी तक हस्तांतरित करती है। छात्र जो भी विद्यालय में सीखते हैं वह समाज की सांस्कृतिक विरासत का हिस्सा है। सीखने की यह प्रक्रिया समाज के तरुण सदस्यों के व्यक्तित्व का गठन तथा विकास करती है।

शैक्षणिक व्यवस्था सामाजिक स्तरीकरण को कई दृष्टियों से प्रभावित करती है। आप यह जानते हैं कि जाति व्यवस्था एक बंद स्तरीकरण का उदाहरण है, जबकि वर्ग एक खुली व्यवस्था का। बंद व्यवस्था में प्रस्थिति जन्म द्वारा प्रदत्त होती है, किंतु खुली व्यवस्था में सामान्यतः व्यक्ति प्रस्थिति को अर्जित करता है। स्तरीकरण की बंद व्यवस्था संस्थागत विषमता पैदा करती है, किंतु आधुनिक समाज इस प्रकार की विषमता का विरोध करते हैं। यहीं शिक्षा की भूमिका अहम हो जाती है। आधुनिक शिक्षा समता, स्वतंत्रता और वैज्ञानिक प्रकृति जैसे उदारवादी मूल्यों को प्रोत्साहित करती है। यह विषमता, सामाजिक वंचना और अन्य सभी प्रकार के भेदभावों के विरुद्ध चेतना जाग्रत करती है। इस प्रकार शिक्षा लोगों को स्तरीकरण की बंद व्यवस्था को समाप्त करने के लिए सशक्त बनाती है और इसे सामाजिक बदलाव के लिए खोलती है। इसके अतिरिक्त, नए व्यावसायिक अवसरों का निर्माण कर आधुनिक शिक्षा व्यावसायिक गतिशीलता को सुगम बनाती है।

राजनीतिक व्यवस्था एक दूसरा महत्त्वपूर्ण आयाम है जिसमें शिक्षा की अहम भूमिका होती है। राजनीतिक व्यवस्था शैक्षणिक व्यवस्था को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है तथा साथ ही शिक्षण व्यवस्था भी राजनीतिक व्यवस्था पर प्रभाव डालती है। दूसरे शब्दों में, विचारधारा, मूल्य तथा लक्ष्य भी तत्कालीन राजनीति को प्रभावित करते हैं। आधुनिक काल में शिक्षा के विकास के कारण ही प्रजातंत्र, समाजवाद, पंथ निरपेक्षता और सामाजिक न्याय जैसे आदर्श फले-फूले हैं। उदाहरण के लिए, भारत में काफी हद तक शिक्षित एवं जाग्रत लोगों ने ही स्वतंत्रता संग्राम की शिक्षा दी थी।

शैक्षणिक व्यवस्था आर्थिक व्यवस्था में विविधता लाती है। हाल तक अर्थशास्त्रियों ने शिक्षा के आर्थिक महत्त्व को स्वीकार नहीं किया था, परंतु अब उन लोगों ने भी आर्थिक विकास के लिए शिक्षा को एक कारक मान लिया। 'मानव संसाधन विकास' जैसे शब्दों के प्रयोग और लोकप्रियता के पीछे यही विचार है। शिक्षा व्यवस्था विभिन्न व्यवसायों के लिए उपयुक्त कौशल तथा प्रशिक्षण प्रदान करती है। यह शिक्षा तथा कौशल के आधार पर युवाओं को विभिन्न पदों के लिए तैयार करती है। विशिष्ट आर्थिक आवश्यकताओं के कारण ही विभिन्न देशों में शिक्षा की भिन्न-भिन्न प्राथमिकताएं होती हैं। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए शिक्षा में निवेश को मानव संसाधन के विकास का माध्यम माना जाता है जिससे आर्थिक विकास तेज़ हो सके।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि शिक्षा न केवल सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करती है, बल्कि अनेक दृष्टियों से आधुनिकीकरण के एक घटक के रूप में भी कार्य करती है।

शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन

हमने ऊपर इस तथ्य की चर्चा की है कि किस प्रकार शिक्षा सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों को प्रभावित करती है। इस अर्थ में यह न केवल सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करती है, बल्कि सामाजिक

परिवर्तन के एक घटक के रूप में भी क्रियाशील रहती है। शिक्षा अपने को अधिक-से-अधिक रचनात्मक कार्यों में लगाए रखती है और परिवर्तन के प्रवर्तक का कार्य संपन्न कर सकती है। जो भी परिवर्तन समाज के पुनर्निर्माण के लिए वांछनीय हैं उन्हें युवा पीढ़ी के मन में बैठाना शिक्षा का कार्य है। इसके अतिरिक्त, यह लोगों को परिवर्तन की चुनौतियों से जूझने के लिए बौद्धिक एवं भावात्मक रूप से तैयार करती है।

शिक्षा आधुनिकीकरण का एक महत्त्वपूर्ण कारक है। आधुनिकीकरण के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में संबंधित आधुनिक मूल्यों को लोगों के मन में बैठाना आवश्यक होता है। समानता, स्वतंत्रता, वैज्ञानिक दृष्टि, मानवतावाद तथा अंध विश्वास के विरुद्ध विचार जैसे मूल्यों से आधुनिकीकरण का मार्ग प्रशस्त होता है। शिक्षा के माध्यम से यह कार्य कारगर ढंग से संपन्न हो सकता है।

भारत में शिक्षा तथा आधुनिकीकरण

प्रारंभिक स्थिति

प्राचीन भारत में शिक्षा दैनिक जीवन के कार्यकलापों के माध्यम से परिवार, स्वजन समूह तथा संपूर्ण समाज द्वारा दी जाती थी। परंतु समय के अंतराल में आवश्यकता तथा क्रियाकलापों में वृद्धि के कारण सुव्यवस्थित शिक्षण प्रारंभ हुआ और शिक्षकों का एक विशेष व्यावसायिक समूह तैयार हुआ। इस प्रकार औपचारिक शिक्षण व्यवस्था की शुरुआत हुई। शिक्षा प्रदान करने का काम ब्राह्मण करते थे। ब्राह्मण औपचारिक शिक्षक थे और ज्ञान एवं पांडित्य के भंडार माने जाते थे। शिक्षा व्यवस्था विद्वान शिक्षकों को केंद्र में रखकर कार्य करती थी और शिक्षा पद्धति प्रत्येक विद्यार्थी की भूमिका पर महत्त्व देती थी। यह शिक्षा व्यवस्था आदेश की अपेक्षा जीवन पर अधिक बल देती थी। इस प्रकार विभिन्न केंद्रों में पाठ्यक्रम अलग-अलग हुआ करते थे। धार्मिक विचारों का प्रसार तथा पवित्र ग्रंथों की व्याख्या गुरुकुल एवं विद्यालयों के प्रमुख कार्य थे। हालांकि इस शिक्षा व्यवस्था की सुविधा आबादी के छोटे भाग को ही उपलब्ध थी जिनका वर्ण क्रम में ऊंचा स्थान था। यह व्यवस्था आगे चलकर सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन के दबाव से समाप्त हो गई।

ऐतिहासिक दृष्टि से भारत में आधुनिक शिक्षा का सूत्रपात ब्रिटिश शासन की स्थापना के साथ हुआ। प्रारंभ में ब्रिटिश शासकों ने पारंपरिक विद्यालयों का समर्थन कर इनके विस्तार एवं विकास को प्रोत्साहित किया। परंतु उन्नीसवीं सदी के मध्य में औपनिवेशिक नीति में परिवर्तन हुआ और भारत में यूरोपीय साहित्य एवं विज्ञान के अध्ययन का निर्णय लिया गया। उच्च शिक्षा के लिए अंग्रेज़ी को माध्यम बना दिया गया। इस नीति ने उच्च एवं मध्य वर्गों के बीच शिक्षा को केंद्रित रखा। उपयुक्त प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति कम ही हुई। एक आकलन के अनुसार सन 1881-82 में 5 से 12 आयु वर्ग के 10 बालकों में 1 और 250 बालिकाओं में 1 स्कूल जाते थे। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में लगभग 90 प्रतिशत लोग निरक्षर थे। इस प्रकार, शिक्षा व्यवस्था ने न केवल ऊंचे वर्गों तथा जन सामान्य के बीच की दूरी को कायम रखा, बल्कि इसे और भी बढ़ा दिया।

इस अवधि की शिक्षा नीति में कई महत्त्वपूर्ण कमियां थीं। प्राथमिक शिक्षा की तुलना में उच्च शिक्षा पर अधिक ज़ोर दिया गया। विद्यालयों की अपेक्षा महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में नामांकन ऊंची दर से बढ़े। फलस्वरूप, शिक्षा के माध्यम से आधुनिकीकरण शिक्षित तथा अभिजात समूहों तक ही सीमित रहा जो अधिकतर ऊंची जातियों के सदस्य थे। इसने मुश्किल से जनसमूह को प्रभावित किया।

इसके बावजूद औपनिवेशिक शासन काल में आरंभ की गई शिक्षा व्यवस्था में अनेक गुण थे। इसने शिक्षा व्यवस्था को मौलिक रूप से एक नई दिशा दी और भारत में आधुनिक शिक्षा की नींव रखी। इसकी विषय-वस्तु उदारवादी तथा आधुनिक थी। विज्ञान, प्रौद्योगिकी तथा चिकित्सा जैसे कई नए विषयों का अध्यापन प्रारंभ हुआ जिसने आधुनिकीकरण के लिए एक उपयुक्त वातावरण का निर्माण किया। शिक्षण संस्थानों की संरचना व्यावसायिक स्तर पर विकसित की गई। संस्थाओं को प्राथमिक विद्यालय, उच्च विद्यालय, महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय की श्रेणियों में विभक्त किया गया। संस्थानों का यह ढांचा स्वतंत्रता के पश्चात भी रहा।

स्वतंत्रता और उसके बाद

भारत में विगत पचपन वर्षों के दौरान शिक्षा में आश्चर्यजनक प्रगति हुई है। संपूर्ण तथा तुलनात्मक दोनों दृष्टियों से यह उपलब्धि विलक्षण है। यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है जब हम आज की स्थिति की तुलना स्वतंत्रता प्राप्ति के समय से करते हैं। हमें जो शिक्षा व्यवस्था विरासत में मिली उसका राष्ट्रीय आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं से कोई रिश्ता नहीं था। यह गणनात्मक दृष्टि से कम तथा गुणात्मक दृष्टि से अपर्याप्त थी। देश की जनसंख्या में लगभग 14 प्रतिशत लोग ही साक्षर थे। तीन बच्चों में से मात्र एक प्राथमिक विद्यालय में नामांकित था। नामांकन तथा साक्षरता के निम्न स्तर के अतिरिक्त शिक्षा व्यवस्था में क्षेत्रीय एवं लैंगिक असमानताएं विद्यमान थीं। इस व्यवस्था के समक्ष न केवल शिक्षा के प्रसार की समस्या थी, बल्कि गतिहीनता तथा कमियां भी गंभीर थीं। व्यावसायिक शिक्षा का अभाव था और भारतीय समाज की सामाजिक तथा सांस्कृतिक आवश्यकताओं से इसका कोई संबंध नहीं था।

स्वतंत्रता के पश्चात यह स्वीकार किया गया कि शिक्षा आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का अनिवार्य पक्ष है। अतः राष्ट्रीय विकास की कार्य सूची में शैक्षणिक सुधार को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला। वस्तुतः एक संवैधानिक तथा नीतिगत ढांचे का निर्माण हुआ। विभिन्न सफल पंचवर्षीय योजनाओं ने शैक्षणिक विकास के कई कार्यक्रमों को प्रारंभ कर इस लक्ष्य को आगे बढ़ाया।

भारत की शैक्षणिक रूपरेखा का निर्धारण सबसे पहले साक्षरता के संदर्भ में कर सकते हैं। वर्ष 1951 में साक्षरता दर 18.3 प्रतिशत थी जो 1991 की जनगणना में बढ़कर 52.2 प्रतिशत हो गई। अब यह वर्ष 2001 की जनगणना के अनुसार 65.38 प्रतिशत हो चुकी है। पुरुष साक्षरता दर 75.85 प्रतिशत है, जबकि महिलाओं में यह केवल 54.16 प्रतिशत है। इन आंकड़ों से स्पष्ट है कि साक्षरता के क्षेत्र में भारत ने अभूतपूर्व प्रगति की है। यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि विगत दशक में पहली बार निरक्षरों की संख्या में लगभग 3.19 करोड़ की कमी आई है। दूसरा, महिला साक्षरता दर 14.87 प्रतिशत बढ़ी है जबकि पुरुषों में यह दर 11.72 प्रतिशत है। साक्षरता दर में प्रगति के मुख्यतः दो कारण रहे हैं। प्रथम, सरकार द्वारा प्रायोजित राष्ट्रीय साक्षरता अभियान। इस अभियान को विकेंद्रित किया गया, जिससे इसकी उपयोगिता बढ़ी। द्वितीय, गैर-सरकारी संगठनों की सहभागिता के कारण साक्षरता अभियान अधिक लचीला हो गया है।

प्राथमिक शिक्षा का विस्तार और समेकन भी प्रशंसनीय है। प्राथमिक शिक्षा का सार्वभौमीकरण एक राष्ट्रीय लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया गया है। इस कार्यक्रम का उद्देश्य सभी तक शिक्षा को पहुंचाने, उन्हें विद्यालय में बनाए रखने की उपलब्धि पर निर्भर है। अब देश की ग्रामीण आबादी के 94 प्रतिशत लोगों के लिए करीब एक किलोमीटर के अंदर

प्राथमिक विद्यालय उपलब्ध हैं। उच्च प्राथमिक स्तर पर 84 प्रतिशत ग्रामीण आबादी के लिए 3 किलोमीटर के अंदर विद्यालय हैं। प्राथमिक स्तर में नामांकन 1950-51 के 42.60 प्रतिशत से बढ़कर 1999-2000 में 94.90 प्रतिशत हो गया है। इसी तरह प्राथमिक तथा माध्यमिक विद्यालयों की संख्या 1950-51 में 2.23 लाख से बढ़कर 1999-2000 में 8.39 लाख हो गई है। इस अवधि में इन विद्यालयों में शिक्षकों की संख्या 6.24 लाख से बढ़कर 32.17 लाख हो गई है।

प्राथमिक शिक्षा के सार्वभौमिकरण के लिए सर्व शिक्षा अभियान के नाम से एक नई योजना मिशन के तौर पर प्रारंभ की गई है। इस अभियान का उद्देश्य 6 से 14 वर्ष के आयु वर्ग के सभी बच्चों को वर्ष 2003 तक विद्यालय भेजना है जिससे वर्ष 2007 तक वे पांच वर्षों की प्राथमिक शिक्षा तथा वर्ष 2010 तक आठ वर्षों की विद्यालयी शिक्षा पूरी कर सकें।

माध्यमिक शिक्षा, प्राथमिक तथा उच्च शिक्षा के मध्य सेतु का कार्य करती है। यह 14 से 18 आयु वर्ग के तरुणों को उच्च शिक्षा में प्रवेश के लिए तैयार करती है। देश में सन 1999 में 1.10 लाख माध्यमिक तथा उच्चतर माध्यमिक विद्यालय थे। कुल मिलाकर इन संस्थानों में 272 लाख छात्र नामांकित थे जिनमें 101 लाख बालिकाएं थीं। इन विद्यालयों में सन 1999 में 15.42 लाख शिक्षक थे। सन 1998 से माध्यमिक स्तर पर व्यावसायिक शिक्षा का समावेश किया गया है।

उच्च शिक्षा संस्थानों का विस्तार भी काफी हुआ है। स्वतंत्रता के समय देश में केवल 18 विश्वविद्यालय थे, परंतु आज विश्वविद्यालयों की संख्या 259 हो गई है। महाविद्यालयों की संख्या 11,089 है तथा 1119 स्वशासी महाविद्यालय हैं। तकनीकी और व्यावसायिक संस्थानों का विकास भी अद्वितीय रहा है। वर्तमान में 7000 शिक्षक शिक्षा महाविद्यालय, 110 पॉलिटेकनिक, 600 प्रबंधन संस्थान, 550 इंजीनियरिंग महाविद्यालय और 170 चिकित्सा महाविद्यालय हैं।

शिक्षा के अवसरों का विस्तार तथा प्रसार के अतिरिक्त शिक्षा के द्वारा महिलाओं की स्थिति में सुधार के विशेष प्रयास हुए हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि महिला सशक्तीकरण, विकास की प्रक्रिया में उनकी सहभागिता की अनिवार्य शर्त है। बालिकाएं अब लक्ष्य-समूह बन गई हैं। उसी प्रकार, अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के शैक्षणिक विकास पर विशेष ध्यान दिया गया है।

शैक्षणिक रूपरेखा का उपर्युक्त वर्णन आकर्षक है, किंतु वास्तविक उपलब्धि लक्ष्य से काफी कम है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति में 14 वर्ष की आयु तक के सभी बच्चों के लिए निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा पर बल दिया गया है। परंतु आज भी प्राथमिक शिक्षा सभी को उपलब्ध नहीं हो पाई है।

भारतीय समाज में शिक्षा के प्रसार से व्यापक परिवर्तन हुए हैं। 'वर्गीय शिक्षा' (कुछ लोगों के लिए शिक्षा) से 'जन शिक्षा' (सभी के लिए शिक्षा) की ओर बढ़ने से शैक्षणिक व्यवस्था में असीमित प्रवेश के द्वार खुल गए हैं। वे समूह तथा समुदाय जो शिक्षा से वंचित थे, अब विकास की मुख्य धारा से जुड़ गए हैं। शिक्षा ने न केवल समानता और मानवता जैसे सार्वभौमिक मूल्यों का प्रसार किया है, अपितु इसने वैज्ञानिक विश्व दृष्टि को भी लोगों तक पहुंचाया है। जन सामान्य के दृष्टिकोण और मनोवृत्ति को बदलने में शिक्षा एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण कारक रही है।

शिक्षा के गणनात्मक विस्तार ने इसे देश के कोने-कोने तक पहुंचा दिया है। इसने शिक्षा के प्रति लंबे समय से आ रही जड़ता तथा भेदभाव को झकझोर दिया है। महिलाओं के बीच साक्षरता एवं

शिक्षा का असाधारण विकास अभूतपूर्व है। इसके फलस्वरूप महिलाओं के विचारों में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है। परिवार के भीतर और बाहर उनकी प्रस्थिति में सुधार आया है तथा उनका आर्थिक योगदान भी सुस्पष्ट है। बालक एवं बालिकाओं के प्रति विचारों में भेदभाव अब पहले की तरह प्रभावशाली नहीं है। महिलाओं की भूमिका के प्रति समाज की मनोवृत्ति में बदलाव ने इन्हें ऐसे कई व्यवसायों में प्रवेश के लिए योग्य बनाया है, जो पहले उनके लिए बंद थे।

शिक्षा के प्रसार के फलस्वरूप अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के सदस्यों में गतिशीलता बढ़ी है। किंतु इस क्षेत्र में स्थिति संतोषजनक नहीं है। इन वंचित समूहों की समस्याएं इतनी गहराई तक जा चुकी हैं कि इनका समाधान सामाजिक व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन के बगैर संभव नहीं है, फिर भी दलित वर्गों के लिए समान अवसर के साथ-साथ विशेष अवसर की राष्ट्रीय नीति ने सकारात्मक असर दिखाया है। इन समुदायों के सदस्यों ने शिक्षा के क्षेत्र में काफी सफलता पाई है। साक्षरता बढ़ी है और काफी हद तक प्राथमिक एवं माध्यमिक विद्यालयों में नामांकन में भी सुधार हुआ है, परंतु उच्च शिक्षा में इनकी उपस्थिति अभी भी कम है। उच्च शिक्षा के सभी क्षेत्रों में लगभग ऊंची जातियों का वर्चस्व कायम है।

अब तक यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि शिक्षा भारतीय समाज को आधुनिक बनाने में एक मज़बूत शक्ति के रूप में क्रियाशील रही है। यह लोगों की विश्वदृष्टि को बदल रही है। विज्ञान के विवेकपूर्ण सिद्धांत पर आधारित शिक्षण संस्थानों का विकास ही आधुनिकीकरण की अभिव्यक्ति है। वंचित तथा दलित लोगों में शिक्षा के प्रति बढ़ती ललक उनकी आकांक्षाओं के स्तर में परिवर्तन का द्योतक है। इस तथ्य ने शिक्षा व्यवस्था पर अतिरिक्त उत्तरदायित्व सौंप दिया है। स्वतंत्रता के समय तक यह केवल उच्च और मध्यम वर्गों की आवश्यकताओं की पूर्ति करती थी, किंतु स्वतंत्रता के बाद इस स्थिति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। सभी स्तरों पर निम्न जातियों के बच्चों ने शिक्षण संस्थानों में काफी संख्या में प्रवेश लिया है। उनकी आकांक्षा तथा क्षमता भिन्न है। फलस्वरूप, इस स्थिति को संभालने के लिए विशेष प्रयासों की आवश्यकता है। उनकी प्रतिभा और सामर्थ्य को उभारने के लिए एक नए दृष्टिकोण की ज़रूरत है जिससे उनकी शैक्षणिक आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके।

शिक्षा से गतिशीलता का स्तर एवं मात्रा दोनों प्रभावित हुए हैं। भारत में हुए अध्ययनों से ज्ञात होता है कि सामान्यत: जातीय स्तर पर गतिशीलता सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्रों तथा पवित्रता एवं अपवित्रता के प्रभाव-क्षेत्र में ही परिचालित होती है। ये परिवर्तन समूह विशेष की प्रथा, व्यवहार, व्यवसाय, शिक्षा और आय में हो रहे परिवर्तनों से प्रतिबिंबित होते हैं। यद्यपि इन परिवर्तनों से स्तरीकरण की संरचना में बड़े पैमाने पर परिवर्तन नहीं हुआ, तथापि कुछ परिवार और परिवारों के समूह जातियों के भीतर ही अन्य कुछ जातियों की तुलना में अपनी प्रस्थिति ऊंची कर सकते हैं। हम यहां इस तथ्य पर ज़ोर देना चाहते हैं कि शिक्षा ने व्यक्ति के स्तर में गतिशीलता लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है, जो धीरे-धीरे समूह स्तर पर फैल रही है। जाति से मुक्त व्यवसायों की संख्या में वृद्धि निश्चित रूप से देश में शिक्षा की प्रगति का परिणाम है। व्यवसायों से जुड़ी प्रतिष्ठा में शिक्षा भी एक तत्त्व है। शिक्षा की मुख्य भूमिका यह निर्धारित करने में होती है कि व्यक्ति किस व्यवसाय को उपार्जित करेगा और उसकी आय का क्या स्तर होगा।

जब हम स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में शिक्षा की प्रगति को भव्यता से हटकर देखते हैं तब हमें

भारतीय शिक्षा व्यवस्था में व्याप्त वर्तमान समस्याओं का सामना करना पड़ता है। स्तर, विषय-वस्तु और शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य जैसी समस्याएं हमारी शिक्षा व्यवस्था के मूल में हैं। इन समस्याओं पर गंभीरता से चर्चा करनी होगी और व्यवस्था को अधिक प्रभावी एवं आकर्षक बनाने के लिए उपाय ढूंढ़ने होंगे। राष्ट्र ने देश के सामाजिक और आर्थिक विकास में शिक्षा के महत्त्व को स्वीकार किया है, अत: देश की शैक्षिक योजना को इस दिशा में कार्रवाई करनी होगी। भारतीय शिक्षा आयोग, 1966 ने अपनी 'शिक्षा तथा राष्ट्रीय विकास' नामक रिपोर्ट में ज़ोर देकर कहा है कि "शिक्षा पर अलग हट कर विचार नहीं किया जा सकता अथवा शून्य में इसकी योजना नहीं बनाई जा सकती। इसे सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिवर्तन के शक्तिशाली हथियार के रूप में इस्तेमाल करना होगा ...।"

शब्दावली

शिक्षा : शिक्षा सामाजिक परिवर्तन की कारक है। यह लोगों को नए विचारों को विकसित करने और परिवर्तित पर्यावरण में समायोजन के लिए प्रशिक्षण देती है।

अभ्यास प्रश्न

1. शिक्षा का अर्थ बताइए।
2. शिक्षा के मूल प्रकार्य क्या हैं?
3. संस्कृति और शिक्षा के बीच क्या संबंध है?
4. शिक्षा किस प्रकार सामाजिक परिवर्तन की कारक है ?
5. सामाजिक स्तरीकरण की खुली एवं बंद व्यवस्था में अंतर कीजिए।
6. भारत में सामाजिक परिवर्तन लाने में शिक्षा की भूमिका की व्याख्या कीजिए।

संदर्भ-ग्रंथ

- सच्चिदानंद, ***हरिजन एलीट***, थामसन प्रेस लिमिटेड, नई दिल्ली, 1977
- शाह, बी.वी. और शाह, के. बी., ***सोशियोलॉजी ऑफ एजुकेशन***, रावत पब्लिकेशंस, जयपुर, 1998
- पेरेलियस, एन पी. और पेरेलियस, रॉबर्ट जे., ***द सोशियोलॉजी ऑफ एजुकेशन***, एन. जे. : प्रेंटिस हॉल. एंगलवुड क्लिफ्स, 1978

अध्याय 8

जन संचार और सांस्कृतिक परिवर्तन

हम लोग सूचना-क्रांति युग में रह रहे हैं। जितनी मात्रा में सूचनाएं उत्पन्न हो रही हैं उन पर सहसा विश्वास नहीं होता और वे स्वप्न से भी परे हैं। मूलत: यह सूचना प्रौद्योगिकी में क्रांति का परिणाम है। दूरसंचार, टेलीविजन और कंप्यूटर एक साथ मिल गए हैं। इन सभी प्रौद्योगिकियों का योग सूचना और संचार प्रौद्योगिकी कहलाता है। इसमें जन सामान्य के जीवन के विभिन्न पक्षों को परिवर्तित करने की भारी क्षमता है। ऐसी परिस्थिति में यदि लोगों के कल्याण के लिए सूचनाओं का इस्तेमाल होता है तब इनका प्रसारण आवश्यक है। सूचना प्रसारण का यह कार्य जन संचार द्वारा निष्पादित होता है।

बोलचाल में जन संचार का अर्थ है रेडियो, टेलीविजन, मुद्रित सामग्री और फिल्म जैसे साधन जिनका काम अधिक-से-अधिक लोगों तक सूचना पहुंचाना है। 'जन' शब्द का प्रयोग यहां किसी समुदाय, समूह अथवा देश में अधिकांश लोगों के अर्थ में किया गया है, न कि किसी खास वर्ग या श्रेणी के लोगों के लिए। जन का यह अभिप्राय बताता है कि जन संचार दूसरी तरह के संचारों से अलग है क्योंकि यह कुछ व्यक्तियों अथवा आबादी के किसी विशेष भाग को नहीं बल्कि आबादी के सभी भागों को संबोधित करता है। इसे जन संचार इसलिए भी कहते हैं क्योंकि इन माध्यमों से जनता के लिए एक साथ सूचनाएं प्रसारित होती हैं।

हाल में इस विषय की विवेचना में दो शब्द – जन संचार और जन संवाद (मास मीडिया और मास कॉम्यूनिकेशन) का व्यवहार साथ-साथ हो रहा है। कुछ विद्वानों ने इन दोनों के बीच भेद भी किया है। जन संवाद वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा सूचना काफी लोगों तक पहुंचाई जाती है, जबकि जन संचार इन सूचनाओं के पहुंचाने का साधन है। संदेश और सूचना को भेजने वालों से श्रोताओं तक हस्तांतरण की प्रक्रिया जन संवाद के अंतर्गत आती है। यह हस्तांतरण जन संचार की तकनीकों यथा समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं, टेलीविजन कार्यक्रमों, फिल्मों, कंप्यूटर के जालों आदि के द्वारा होता है। सूचना भेजने वाला व्यक्ति किसी बड़े संचार संगठन अथवा सरकारी एजेंसियों से जुड़ा हो सकता है, संदेश सार्वजनिक होते हैं और दर्शकों की संख्या बहुत ज्यादा होती है। प्रस्तुत विवेचन में इन दोनों शब्दों – जन संचार तथा जन संवाद के बीच इस सूक्ष्म अंतर पर ध्यान नहीं दिया गया है। हमने यहां केवल जन संचार शब्द का प्रयोग किया है जो अधिक लोकप्रिय है और हमारे उद्देश्य की पूर्ति करता है।

सार्वजनिक संदेश के उत्पादन और प्रसारण के संगठित स्वरूप को जन संचार कहा जाता है जिसके अंतर्गत टेलीविजन, रेडियो, फिल्म, समाचार-पत्र तथा पत्रिकाएं सम्मिलित हैं। संचार के इन साधनों को तीन प्रमुख श्रेणियों में विभक्त किया गया है – मुद्रित संचार, विद्युत संचार तथा श्रव्य-दृश्य संचार।

समाज और संचार माध्यम

हम यहां मुख्य रूप से संचार के सामाजिक प्रकार्य तथा संचार की सामान्य आलोचना पर विचार करेंगे।

संचार माध्यम लोगों तक दैनिक घटनाओं की सूचना पहुंचाते हैं। इनमें सभी वस्तुओं का समावेश होता है, चाहे वह मौसम की जानकारी हो अथवा स्थानीय, राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय घटनाएं यथा राजनीति, युद्ध एवं प्राकृतिक विपदा। बड़े नगरों और शहरों में लोग एक-दूसरे से काफी अलग-अलग रहते हैं, जन संचार इन्हें आसपास की घटनाओं से अवगत कराते रहते हैं।

मनोरंजन संचार का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य है। लोग न केवल फिल्म जैसे मनोरंजन के साधनों के द्वारा अपना मनोरंजन करते हैं, बल्कि जन संचार द्वारा दी गई सूचना से भी अपना मनोरंजन करते हैं। उदाहरण के लिए, स्थानीय समाचार कार्यक्रम हिंसक अपराधों तथा खेलकूद विषयों का विवरण देकर लोगों को न केवल सूचना देते हैं बल्कि उनका मनोरंजन भी करते हैं। अधिकांश स्थानीय टेलीविजन चैनल लोगों का पर्याप्त मनोरंजन कर मुनाफा कमाते हैं।

बच्चों के समाजीकरण में संचार की भूमिका काफी बढ़ गई है। जैसा कि आप जानते हैं, परिवार, समसमूह तथा विद्यालय सामान्यत: समाजीकरण के मुख्य कारक हैं। फिर भी, जनसंचार के विकास के कारण बच्चों पर संचार व्यवस्था का काफी सक्रिय प्रभाव पड़ रहा है। संगीतज्ञ, नर्तक, खेलकूद के हीरो, अभिनेता तथा अभिनेत्रियां सभी तरुणों को नया विचार देते हैं कि कैसे व्यवहार करना चाहिए और किस प्रकार की पोशाक पहननी चाहिए। संचार के माध्यमों द्वारा चित्रित मूल्यों, मनोवृत्तियों और विश्वासों को भी तरुण अंगीकार कर लेते हैं। मार्टिन इसलिन ने अपनी पुस्तक 'द एज ऑफ टेलीविजन' में बताया है कि टेलीविजन हमारे घरों में सामूहिक दिवा-स्वप्न का अंतहीन प्रवास लाता है, जिससे तथ्य एवं वास्तविकता, वास्तविक संसार एवं स्वप्न चित्रित संसार का भेद धुंधला हो जाता है। टेलीविजन धनवान होने की हमारी इच्छा को तृप्त करता है और कामुक इच्छाओं की संतुष्टि का प्रबंध करता है। संचार के प्रभाव का यह पक्ष हमारा ध्यान यथार्थ जीवन से हटाता है और तार्किक रूप से सोचने की क्षमता में कमी लाता है।

सांस्कृतिक निरंतरता को बनाए रखने में संचार हमारी मदद करता है। संस्कृति को जीवित रखने में इसकी अहम भूमिका है। तेज़ी से बदलते विश्व में संस्कृति के कई तत्त्व दृश्य से ओझल हो रहे हैं। इन तत्वों को कार्यक्रमों में सम्मिलित कर लोगों को इसके अस्तित्व का भान कराया जाता है। उदाहरणस्वरूप भारत में रेडियो ने शास्त्रीय संगीत के प्रसारण द्वारा इस परंपरा को जीवित रखने की कोशिश की है।

अब हम जन संचार के नकारात्मक प्रभावों की चर्चा करते हैं। कई विद्वानों, शिक्षा कर्मियों तथा अन्य लोगों ने संचार के प्रभावों की तीखी आलोचना की है। उनमें से कुछ आलोचनाएं इस प्रकार हैं –

(क) जन संचार पलायनवाद को बढ़ावा देता है।

(ख) जन संचार निष्क्रियता उत्पन्न करता है और जीवन की गंभीर वस्तुओं से ध्यान हटाता है।

(ग) जन संचार व्यक्तिगत रुचियों को नष्ट कर सांस्कृतिक एकरूपता की ओर अग्रसर करता है।

(घ) जन संचार सामग्रियों को बेचने के लिए विज्ञापनों में महिलाओं का इस्तेमाल करता है।

(ङ) जन संचार वास्तविकता की गलत तस्वीर प्रस्तुत करता है।

ये आलोचनाएं अधिकांशत: जन संचार के माध्यमों के विरोध में नहीं हैं, इनका संबंध मूलत: उन

कार्यक्रमों के स्वरूप तथा विषय-वस्तु पर केंद्रित है जो इन माध्यमों द्वारा प्रस्तुत किए जाते हैं। ये तर्क राज्य एवं समाज की संचार नीति की सीमाओं को भी प्रतिबिंबित करते हैं जहां उन चैनलों का संचालन होता है। जन संचार के उन नकारात्मक पक्षों के बावजूद आधुनिक समाज में जन संचार की बढ़ती गति को रोका नहीं जा सकता है। हमें उनके साथ ही रहना होगा।

भारत में संचार परिदृश्य

भारत महान जन संवादियों का देश रहा है। विविधताओं वाले इस देश में एक साथ बड़ी संख्या में लोगों के बीच संदेश पहुंचाना एक समस्या रही है। जब टेलीविजन अथवा इंटरनेट जैसे संचार के आधुनिक माध्यम उपलब्ध नहीं थे, लोग पारस्परिक संवाद के द्वारा ही सूचनाएं प्राप्त करते थे। इन स्रोतों में धार्मिक उपदेशक, मानव संवादवाहक, व्यापारी, यात्री तथा दूसरे पारंपरिक माध्यम प्रमुख थे। इस प्रकार यद्यपि लंबे समय से सभी प्रकार की संचार रणनीतियों, मॉडलों तथा प्रयोगों का इस्तेमाल होता रहा है तथापि संचार के नए साधनों के उपलब्ध हो जाने से परंपरागत सूचना स्रोतों की लोकप्रियता कम हुई है।

स्वस्थ मनोरंजन की अतिरिक्त सूचना तथा शिक्षा के द्वारा जनता के बीच ज्ञान के प्रसार में जन संचार की अहम भूमिका है। देश में सभी प्रकार के संचार साधनों – मुद्रित, विद्युत और श्रव्य-दृश्य माध्यमों का विकास हुआ है। आइए, अब हम भारत में संचार परिदृश्य पर विचार करें।

मुद्रित संचार

जैसा कि शब्द से ही स्पष्ट है, मुद्रित संचार के अंतर्गत विभिन्न प्रकार के समाचार-पत्र एवं पत्रिकाएं शामिल हैं।

भारत में समाचार-पत्रों के रजिस्ट्रार की वर्ष 2000 की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार, भारत में प्रकाशित होने वाले समाचार-पत्रों तथा पत्रिकाओं की कुल संख्या 49,145 थी जो वर्ष 1999 की प्रकाशित संख्या 46,655 से 5.34 प्रतिशत अधिक थी। इनमें 5,364 दैनिक, 339 अर्द्ध साप्ताहिक, 17,749 साप्ताहिक, 6,553 पाक्षिक, 13,616 मासिक तथा 3,425 त्रैमासिक थे। वर्ष 2000 के दौरान 101 भाषाओं और बोलियों में समाचार-पत्रों का प्रकाशन हुआ था। सबसे अधिक समाचार-पत्र हिंदी (19,685) में और इसके बाद अंग्रेजी (7175) और उर्दू (2848) में प्रकाशित हुए थे। कश्मीरी को छोड़कर सभी प्रमुख भाषाओं में दैनिक समाचार-पत्र प्रकाशित हुए थे। सभी राज्यों और केंद्र शासित प्रदेशों से समाचार-पत्रों का प्रकाशन हो रहा है। मुंबई से सन 1822 से प्रकाशित होने वाला गुजराती दैनिक 'बांबे समाचार' सबसे पुराना समाचार-पत्र है। समाचार-पत्रों के रजिस्ट्रार की रिपोर्ट के अनुसार वर्ष 2000 के दौरान भारतीय समाचार-पत्रों का कुल परिसंचरण 12,69,63,763 प्रतियांक था।

आधुनिक मुद्रित संचार को कई माध्यमों की स्थापना द्वारा मज़बूत बनाया गया है। सन 1956 में समाचार-पत्रों को अखबारी कागज़ के आवंटन के लिए 'द रजिस्ट्रार ऑफ न्यूज़पेपर्स इन इंडिया' (आर. एन.आई.) की स्थापना हुई थी। सभी समाचार-पत्रों एवं पत्रिकाओं को आर. एन. आई. द्वारा पंजीकृत होना पड़ता हैं। समाचार-पत्रों के लिए समाचार एकत्र करने तथा उसे पहुंचाने के लिए 'प्रेस ट्रस्ट ऑफ इंडिया' और 'युनाइटेड न्यूज़ ऑफ इंडिया' जैसी समाचार एजेंसियां हैं। प्रेस की स्वतंत्रता को सुरक्षित रखने तथा समाचार-पत्रों एवं समाचार एजेंसियों के स्तर को सुधारने के लिए 'प्रेस काउंसिल ऑफ इंडिया' की स्थापना की गई है। भारत सरकार ने नीतियों, कार्यक्रमों तथा विभिन्न क्रियाकलापों से संबंधित सूचनाओं के प्रसार के लिए अपनी संस्थाएं 'प्रेस सूचना ब्यूरो' तथा 'प्रकाशन विभाग' बना रखे हैं।

विद्युत संचार

भारत में रेडियो और टेलीविजन विद्युत संचार के दो मुख्य साधन हैं।

आकाशवाणी : भारत में वर्ष 1927 में ही निजी स्वामित्व वाले ट्रांसमीटरों द्वारा प्रसारण प्रारंभ हो गया था। वर्ष 1930 में इन ट्रांसमीटरों को सरकार ने अपने हाथों में ले लिया और 'इंडियन ब्राडकास्टिंग सर्विस' के नाम से प्रसारण होने लगा। वर्ष 1936 में इसका नाम बदल कर 'ऑल इंडिया रेडियो' किया गया और पुन: वर्ष 1957 से यह 'आकाशवाणी' के नाम से जाना जाता है। अब 100 से अधिक एफ. एम. (फ्रिक्वेंसी मॉड्यूलेशन) रेडियो स्टेशन देश में स्थापित हो चुके हैं।

वर्तमान में आकाशवाणी के 208 रेडियो स्टेशन और 327 ट्रांसमीटर हैं। इनमें 149 मीडियम वेव के, 55 शार्ट वेव तथा 123 एफ. एम. ट्रांसमीटर हैं। देश में 28 मई, 1995 से एफ. एम. चैनल और 25 फरवरी, 1998 से ऑल इंडिया रेडियो न्यूज़ ऑन फोन सेवा भी उपलब्ध है। ऑन-लाइन सूचना सेवा के लिए अब आकाशवाणी को इंटरनेट से जोड़ दिया गया है। राष्ट्रीय स्तर पर भारत में प्रसारण सेवा का विस्तार क्षेत्र की दृष्टि से 90.6 प्रतिशत और जनसंख्या की दृष्टि से 98.8 प्रतिशत हो चुका है।

दूरदर्शन (डी.डी.): भारत में राष्ट्रीय टेलीविजन-दूरदर्शन, विश्व के सबसे बड़े स्थलीय नेटवर्कों में से एक है। प्रयोग के तौर पर टेलीविजन का प्रारंभ दिल्ली से एक स्टेशन के साथ 15 सितंबर, 1959 में हुआ था। सामाजिक शिक्षा प्रदान करने के माध्यम के रूप में इसका उपयोग होता था। हिंदी में समाचार बुलेटिन के साथ नियमित सेवा का प्रारंभ 15 अगस्त, 1965 को हुआ। देश का दूसरा टेलीविजन केंद्र वर्ष 1972 में मुंबई में खोला गया। इसके बाद श्रीनगर और अमृतसर में वर्ष 1973 तथा कोलकाता, चेन्नई और लखनऊ में वर्ष 1975 में टेलीविजन केंद्र स्थापित हुए। अप्रैल 1976 में दूरदर्शन को ऑल इंडिया रेडियो से अलग कर एक स्वतंत्र विभाग बना दिया गया। दृश्य अवलोकन के अतिरिक्त विकल्प उपलब्ध करवाने के लिए दिल्ली में वर्ष 1984 में एक और चैनल जोड़ा गया।

अब दूरदर्शन अपने 1042 स्थलीय ट्रांसमीटरों के जाल के द्वारा देश की आबादी के 87 प्रतिशत और 70 प्रतिशत भौगोलिक क्षेत्र तक पहुंच चुका है। देश के 49 शहरों में इसके प्रोडक्शन स्टूडियो हैं।

विभिन्न दूरदर्शन केंद्रों द्वारा अलग-अलग भाषाओं में शैक्षणिक टेलीविजन कार्यक्रम प्रसारित होते हैं। मानव संसाधन विकास मंत्रालय के सहयोग और इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के माध्यम से दूरदर्शन का एक विशेष शैक्षिक चैनल डी.डी. ज्ञानदर्शन 26 जनवरी, 2000 से प्रारंभ किया गया है। इसके अतिरिक्त पूरे देश में करीब सौ से अधिक निजी टी.वी. चैनल और केबल नेटवर्क हैं जो हिंदी एवं अंग्रेज़ी के अतिरिक्त क्षेत्रीय भाषाओं में कार्यक्रम प्रसारित करते हैं।

श्रव्य-दृश्य संचार

भारत में जन संचार का सबसे लोकप्रिय माध्यम फिल्में रही हैं। हमारे यहां सन 1912-13 से ही फिल्में बनाई जा रही हैं। चित्रे के साथ मिलकर आर.जी. टोरनी ने 1912 में 'पुंडलिक' बनाई जबकि धूनजीराज गोविंद फालके ने वर्ष 1913 में 'राजा हरिश्चंद्र' नाम की फिल्म बनाई। सवाक चित्र (टॉकीज़) ने वर्ष 1931 में मूक फिल्मों का स्थान लिया जब अदेशीर इरानी ने 'आलम आरा' प्रस्तुत की। फीचर फिल्म के वार्षिक उत्पादन में भारत दुनिया में अग्रणी है।

भारत में फिल्मों का प्रदर्शन सेंट्रल बोर्ड ऑफ फिल्म सर्टिफिकेशन के प्रमाण-पत्र के बाद ही

किया जा सकता है। बोर्ड ने वर्ष 2000 के दौरान 855 भारतीय और 252 विदेशी फीचर फिल्मों को प्रमाणित किया था। इसके अतिरिक्त 1058 भारतीय और 194 विदेशी छोटी फिल्में, 111 भारतीय वीडियो फीचर फिल्में और 38 विदेशी वीडियो फीचर फिल्में, 503 भारतीय वीडियो छोटी फिल्में और 167 विदेशी वीडियो फिल्मों को भी प्रमाण-पत्र दिया गया था।

भारत सरकार ने वर्ष 1948 में पुनरुत्थानशील स्वतंत्र भारत की उपलब्धियों को अंकित, प्रचारित तथा सुरक्षित रखने के लिए फिल्म डिवीजन की स्थापना की थी। यह जनता और सरकार के बीच सक्रिय कड़ी रहा है। फिल्म डिवीजन आज समाचार पत्रिकाओं तथा वृत्त-चित्रों के उत्पादन और वितरण की सबसे बड़ी राष्ट्रीय एजेंसी है।

सूचना, जन संचार और सांस्कृतिक परिवर्तन

यह स्वीकृत तथ्य है कि विकास और परिवर्तन में सूचना एक महत्त्वपूर्ण कारक है। जन संचार के द्वारा नए विचारों का प्रसारण परिवर्तन के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करता है। मनोवृत्ति और मूल्यों में बदलाव लाने के अतिरिक्त सूचना नवीन कौशल और तकनीक का ज्ञान भी प्रदान करती है। सूचना लोगों के मानसिक ज्ञान की सीमा के विस्तार में भी सहायता पहुंचाती है। लोगों की आकांक्षाओं के स्तर को ऊंचा उठाने में भी इसका उपयोग होता है।

निरक्षरता की उच्च दर के बावजूद मुद्रित सामग्रियों की महत्ता को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता है। समाचार-पत्र अब केवल नगरीय क्षेत्रों में ही लोकप्रिय नहीं रह गए हैं बल्कि ग्रामीण आबादी के साक्षर समूहों के बीच भी यह काफी लोकप्रिय है। समाचार-पत्र की एक प्रति चाय अथवा कॉफी की दुकानों में दर्जनों लोगों के बीच पढ़ी जाती है। वस्तुतः समाचार-पत्र सही मायने में जन माध्यम बन गया है। टेलीविजन भी मनोरंजन एवं सामयिक सूचना के प्रसारण का सामान्य स्रोत बन चुका है। असल में, जन संचार की बढ़ती लोकप्रियता लोगों के जीवन में क्रांति ला रही है।

सूचनाओं का प्रभाव विविध आयामी है। इसने परिवर्तन की प्रक्रिया को तीव्र किया है। नई चीज़ों और जगहों के विषय में लोग अब ज़्यादा जानते हैं। उनकी संस्कृति में कई नवीन तत्त्व शामिल हो रहे हैं। दैनिक जीवन तथा व्यवहार भी दूसरों के रिवाजों के प्रभाव में आ रहे हैं। दूसरे शब्दों में, संचार के विभिन्न माध्यमों से सांस्कृतिक परिवर्तन का सूत्रपात हो रहा है। सूचना के आधुनिक माध्यमों के विस्तार ने नई सांस्कृतिक चुनौतियों को भी जन्म दिया है। अपनी सांस्कृतिक अस्मिता के महत्त्व को लोग पहचानने लगे हैं। अपने सांस्कृतिक प्रतीकों और पदार्थों में लोगों की अभिरुचि पुनः जाग्रत हुई है। संचार के आधुनिक तरीकों की सहायता से पारंपरिक सामूहिक गतिविधियां पुनः मज़बूत हुई हैं। इस प्रक्रिया ने लोक सांस्कृतिक संस्थाओं को उभरती सांस्कृतिक परंपरा के साथ जोड़ दिया है। समाजशास्त्रियों ने इसे भारतवासियों का सांस्कृतिक लचीलापन कहा है। इसने परंपरागत और आधुनिक मूल्य व्यवस्था का संतुलन बनाकर एक प्रकार की सांस्कृतिक अखंडता का मार्ग प्रशस्त किया है।

भूमंडलीकरण और स्थानीय संस्कृति

प्रारंभ में भूमंडलीकरण की परिभाषा आर्थिक प्रक्रिया के रूप में की गई है। हम अब आगे कहना चाहेंगे कि भूमंडलीकरण न केवल एक आर्थिक प्रक्रिया है बल्कि यह बहु आयामी प्रक्रिया है। यह प्रक्रियाओं का समूह है जो व्यक्तियों, समूहों और समुदायों के बीच अंतःसंबंध स्थापित करता है। इन संबंधों का मानवीय जीवन पर गहरा असर पड़ता है। इस स्थिति में स्थापित सामाजिक संबंध पूर्णरूपेण परिवर्तित हो जाते

हैं, क्योंकि यह जीवन से अत्यंत गहराई से जुड़े होते हैं। इस प्रकार, भूमंडलीकरण के अंतर्गत व्यक्तियों का जीवन तथा समुदायों का भाग्य दूर देशों की घटनाओं पर अधिक निर्भर हो जाता है। राष्ट्रीय तथा स्थानीय सीमाएं कमज़ोर पड़ जाती हैं। कार्यकलापों का पार-महाद्वीपीय तथा पार-देशीय जाल बिछ जाता है। सांस्कृतिक दृष्टि से नए संबंध स्थापित हो जाते हैं। ये परिवर्तन भूमंडलीकरण के सांस्कृतिक आयाम के द्योतक हैं। इस परिप्रेक्ष्य में हम स्थानीय संस्कृति पर भूमंडलीकरण के प्रभाव की चर्चा करेंगे।

हम जानते हैं कि संस्कृति मानव समाज का अनिवार्य अंग है। यह समाज व्यवस्था का एक मुख्य तत्त्व है। प्रत्येक समाज की अपनी संस्कृति होती है जो निजी विशेषताओं से भरी होती है। परंतु किसी समाज विशेष की संस्कृति में क्षेत्रीय विविधता पाई जा सकती है। उदाहरण के लिए, भारतीय संस्कृति में ही हमें कई धाराएं देखने को मिलती हैं जो विभिन्न क्षेत्रों में अवस्थित हैं। इन सांस्कृतिक क्षेत्रों की परंपराएं अलग-अलग हैं। इन्हें हम उप संस्कृति कह सकते हैं। कुछ समाजशास्त्रियों ने इन क्षेत्रीय संस्कृतियों को 'स्थानीय संस्कृति' कहा है। स्थानीय संस्कृति शब्द का उपयोग तुलनात्मक अर्थ में हुआ है। जब हम किसी देश की संस्कृति की बात करते हैं तब दूसरे देशों में लोगों के लिए यह एक राष्ट्रीय संस्कृति है। किंतु यदि संदर्भ किसी देश के भीतर अवस्थित सांस्कृतिक क्षेत्रों से है तब प्रसंग बदल जाता है। उदाहरण के लिए, अमेरिका और ब्रिटिश वासियों के लिए भारतीय संस्कृति भारत की राष्ट्रीय संस्कृति है। परंतु भारतवासियों के लिए स्थानीय संस्कृति से तात्पर्य बिहार, उड़ीसा, तमिलनाडु अथवा केरल में पाए जाने वाले स्थानीय सांस्कृतिक प्रतिमानों से है। हम जनजातीय समुदायों की स्थानीय संस्कृतियों की भी बात कर सकते हैं।

यहां हमारा उद्देश्य भूमंडलीकरण के कारण विभिन्न समूहों तथा समुदायों की संस्कृतियों में हो रहे परिवर्तनों को स्पष्ट करना है। विभिन्न देशों में उपयोग के प्रतिमानों, परिधान की शैलियों, सौंदर्य सामग्रियों के उपयोग आदि में व्यापक परिवर्तन दिख रहे हैं। संगीत, सांस्कृतिक प्रदर्शनों, कला के स्वरूपों तथा क्षेत्रीय सांस्कृतिक विशेषताओं में भी परिवर्तन आ रहे हैं। दृढ़ता से यह कहना कठिन है कि ये परिवर्तन किस सीमा तक बढ़ते भूमंडलीकरण के परिणाम हैं। किंतु साथ ही अन्य देशों की सांस्कृतिक संस्थाओं तथा व्यवहारों के प्रभाव की भूमिका को भी हम नज़रअंदाज़ नहीं कर सकते। बाज़ार तथा पदार्थ उन्मुख सांस्कृतिक शक्तियां सांस्कृतिक मूल्यों तथा पदार्थों को अव्यवस्थित कर रही हैं।

भूमंडलीकरण ने स्थानीय एवं लघु सांस्कृतिक पहचानों के लिए वास्तविक तथा काल्पनिक भय बढ़ा दिया है। बाज़ार के महत्त्व की वृद्धि ने सांस्कृतिक प्रतीकों को पदार्थों में रूपांतरित कर दिया है। संस्कृति को बाज़ार में बिक्री के लिए उपलब्ध कराया जा रहा है। संस्कृति का बाज़ारीकरण स्पष्ट दिखाई दे रहा है। पर्यटन का उद्योग के रूप में उभरना, पर्यटन स्थलों की बढ़ती संख्या और सांस्कृतिक वस्तुओं का विपणन—ये सभी मुद्दे स्थानीय समुदायों को प्रभावित कर रहे हैं। इनके परिणामों ने सांस्कृतिक वस्तुओं को अर्थहीन बना दिया है। लोक संस्कृति की संरचना का क्षरण इसका स्वाभाविक परिणाम है। इस तरह भूमंडलीकरण सांस्कृतिक विखंडन उत्पन्न करता है, क्योंकि यह सांस्कृतिक परंपरा के सारवान मूल्यों को संकट में डाल देता है।

इसके अतिरिक्त, भूमंडलीकरण सजातीयता की अपेक्षा रखता है। यह समानता तथा सजातीयता के विचारों पर आधारित है। दूसरी ओर, संस्कृति का मूल तत्त्व विलक्षणता है। संस्कृति को विविधता कायम रखती है न कि सजातीयता, ऐसा खासकर बहुसांस्कृतिक

समाजों में होता है। भारत बहुसांस्कृतिक व्यवस्था वाले समाज का अत्यंत उपयुक्त उदाहरण है। भूमंडलीकरण सांस्कृतिक विशिष्टताओं के मिश्रण का प्रयत्न करता है और इस तरह बाहुल्य को नकारता है। विश्व संस्कृति का सार्वभौमिक उद्देश्य सांस्कृतिक भिन्नता तथा विशिष्टताओं को अस्वीकार करने का प्रयास है। भूमंडलीकरण संपूर्ण विश्व को एक ही व्यवस्था मानता है, अत: इसकी कोशिश एक विश्व संस्कृति की रचना करना है। अत: विश्व संस्कृति के उदय के लिए यह स्थानीय संस्कृति तथा उपसंस्कृति के लोप को उचित सिद्ध करता है।

भूमंडलीकरण के अंतर्गत राष्ट्रों की सांस्कृतिक स्वायत्तता खतरे में है। सामाजिक स्तर पर परंपरागत सांस्कृतिक ढांचे एवं संस्थाओं का विघटन हो रहा है। पश्चिमी देशों द्वारा निर्मित संचार सामग्री आज पूरी दुनिया के संचार चैनलों में प्रभुत्व जमाए बैठी है। हमारे अपने देश में भी टेलीविजन नेटवर्कों ने विदेशों में तैयार कार्यक्रमों का प्रसारण प्रारंभ कर दिया है। ये कार्यक्रम स्थानीय संस्कृति को नष्ट कर रहे हैं। ये वैचारिक संदेशों द्वारा लोगों पर मत आरोपित कर उन्हें पराए मूल्यों तथा विश्वासों को स्वीकार कराने में लगे हैं।

विश्वव्यापी संस्कृति के नाम पर छिछला उपभोक्ता पैकेज तीसरी दुनिया के देशों में परोसा जा रहा है। इस संस्कृति के प्रभाव से संबंधों में अस्थायित्व तथा संकीर्णता आई है और वे केवल आर्थिक संतुष्टि के लिए रह गए हैं। सहयोग, सहभागिता तथा समन्वय जैसे मूल्यों में गिरावट आई है और समाज में तनाव बढ़ा है। वस्तुत: संस्कृति की यह अप्रतिष्ठा भूमंडलीकरण का एक गंभीर नकारात्मक पहलू है।

शब्दावली

उपग्रह संचार (सैटेलाइट कम्युनिकेशन) : इसके द्वारा विभिन्न माध्यमों के बीच संसार के किसी भी क्षेत्र में संचार एवं संबंध स्थापित किया जा सकता है।

श्रव्य-दृश्य माध्यम : वह माध्यम जो देखने एवं सुनने की सुविधाओं को संचारित कर सकता है, जैसे – कंप्यूटर, टेलीविजन इत्यादि।

क्रांति : यह विद्यमान सामाजिक व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन ला सकती है। यह धीरे-धीरे नहीं होती है।

संस्कृति का बाज़ारीकरण : बाज़ारीकरण के बढ़ते महत्त्व ने सांस्कृतिक प्रतीकों को उपयोगी वस्तुओं के रूप में बदल दिया है। यह प्रक्रिया संस्कृति का बाज़ारीकरण कहलाती है।

सजातीयकरण : यह बहुसांस्कृतिक समाजों में समानता एवं सजातीयता को अभिव्यक्त करती है।

अभ्यास प्रश्न

1. जन संचार साधन से आप क्या समझते हैं ?
2. जन संचार साधन के क्या कार्य हैं ?

3. प्रिंट मीडिया एवं ऑडियो विजुवल मीडिया (श्रव्य-दृश्य माध्यम) के बीच अंतर बताइए।
4. संचार माध्यम किस प्रकार समाज में विकास एवं परिवर्तन लाने में सहायक होता है ?
5. मनोरंजन क्रांति क्या है ?
6. सांस्कृतिक आधुनिकीकरण क्या है ?
7. भूमंडलीकरण के सांस्कृतिक आयाम क्या हैं ?
8. 'स्थानीय संस्कृति' शब्द से आप क्या समझते हैं ?
9. भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के तहत संस्कृति में आने वाले परिवर्तनों पर प्रकाश डालिए।

संदर्भ-ग्रंथ

- मल्हन, पी. एन., ***कम्युनिकेशन मीडिया : यस्टरडे, टुडे एंड टुमारो***, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1985
- सिंह, योगेंद्र, ***द सिगनीफिकेंस ऑफ कल्चर इन द अंडरस्टेंडिंग ऑफ सोशल चेंज इन कांटैम्प्ररी इंडिया,*** अध्यक्षीय संभाषण, XXI ऑल इंडिया सोशियोलॉजिकल कांफ्रेंस, नई दिल्ली, 1994
- गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, ***मास मीडिया इन इंडिया* 1994-95**, शोध, संदर्भ और प्रशिक्षण विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1995
- चटर्जी, बी. के., ***मास कम्युनिकेशन,*** नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 1978
- अग्रवाल, बी. सी. और अगही, एम. बी., ***टेलीविजन एंड द इंडियन चाइल्ड* : ए हैंडबुक**, यूनिसेफ, नई दिल्ली, 1987
- लर्नर, डेनियल, ***द पासिंग ऑफ ट्रेडिशनल सोसायटी***, फ्री प्रेस, न्यूयार्क, 1958

अध्याय 9

असहमति तथा सामाजिक परिवर्तन

प्रत्येक समाज में कुछ हद तक असंतोष विद्यमान रहता है। यह असंतोष गरीबी, सामाजिक भेदभाव अथवा सुविधा के अभाव में हो सकता है। इस परिस्थिति में परिवर्तन के लिए लोग अन्याय और वंचन के विरोध में आवाज़ उठाने की प्रबल इच्छा विकसित कर सकते हैं। वे स्थापित सामाजिक व्यवहारों के विषय में भिन्न प्रकार से सोच सकते हैं। वस्तुत: विचारों में यह बदलाव परिवर्तन की इच्छा को प्रदर्शित करता है। इस परिस्थिति में ही सामाजिक आंदोलन का उदय होता है। कोई आंदोलन अचानक घटित नहीं होता। यह असहमति से प्रारंभ होकर विरोध की ओर बढ़ते हुए अंतत: सामाजिक आंदोलन का रूप धारण कर लेता है। यह शृंखला असहमति, विरोध और सामाजिक आंदोलन व सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न चरणों को इंगित करती है। किंतु कुछ मामलों में ये सभी चरण एक साथ एक ही समय में हो सकते हैं। असहमति तथा सामाजिक परिवर्तन का विश्लेषण इस पृष्ठभूमि में ही करना सही है। प्रस्तुत चर्चा में हम सर्वप्रथम इन अवधारणाओं को स्पष्ट करेंगे और फिर सामाजिक आंदोलन के विभिन्न प्रकारों की चर्चा करेंगे।

असहमति

असहमति शब्द का संदर्भ उन विचारों तथा कार्यकलापों से है जो किसी खास समय में समाज में प्रचलित व्यवहारों से भिन्न है। विचार में भिन्नता तथा कुछ मुद्दों पर असहमत होना असहमति का आधार होता है। इस प्रकार असहमति को परिवर्तन के आंदोलन का प्रारंभ माना जा सकता है। उदाहरणस्वरूप, भारत में छुआछूत जैसे अमानवीय व्यवहार के विरोध में संघर्ष तब प्रारंभ हुआ जब इस व्यवहार से पीड़ित लोगों ने इस क्रूरतापूर्ण व्यवहार के विरुद्ध आवाज़ उठाई।

विरोध

सामान्यत: विरोध का स्वरूप अत्यंत विशिष्ट होता है। जब असहमति खुलकर प्रकट होती है तब यह विरोध का रूप ले लेती है। जब वैचारिक असहमति और भी ठोस रूप धारण कर लेती है तब विरोध की स्थिति बन जाती है। इस प्रकार विरोध को अर्थपूर्ण होने के लिए किसी खास समय में समाज की संस्थागत व्यवस्थाओं के विषय में असहमति द्वारा समर्थित होना होगा। वस्तुत: इस स्तर पर ही अन्याय और वंचन की चेतना जाग्रत होती है। अत: हम कह सकते हैं कि भेदभाव और वंचन की सामाजिक अभिव्यक्ति ही विरोध का प्रारंभ है।

निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि असहमति वर्तमान स्थिति के प्रति असंतोष प्रकट करती है और मतभेद को दृढ़ता से व्यक्त करती है। दूसरी ओर विरोध, असहमति का औपचारिक प्रदर्शन है और प्रतिरोध तथा संघर्ष की परिस्थिति का अपेक्षाकृत ठोस प्रतिनिधित्व करता है।

सामाजिक आंदोलन

सामाजिक आंदोलन आज समाजशास्त्रीय अभिरूप का एक प्रमुख विषय हो गया है क्योंकि यह सामाजिक परिवर्तन का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है। सामाजिक आंदोलन एक सतत सामूहिक प्रयास है जो सामाजिक परिवर्तन के कुछ पक्षों पर ध्यान केंद्रित रखता है।

एम. एस. ए. राव का कहना है कि सामाजिक आंदोलन अनौपचारिक अथवा औपचारिक संगठन के द्वारा किया गया सतत सामूहिक प्रयास है और यह सामान्यत: वर्तमान संबंधों की संरचना में परिवर्तन के लिए उन्मुख होता है। विचारधारा को भी राव सामाजिक आंदोलन का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानते हैं। यह परिभाषा सामाजिक आंदोलन की निम्नांकित विशिष्टताओं पर प्रकाश डालती है –

प्रथम, सामाजिक आंदोलन व्यक्तिगत प्रयासों के विपरीत एक सामूहिक प्रयास है। समूह तथा समुदाय ही आंदोलन करता है किंतु यह भीड़ से भिन्न होता है। भीड़ की सामान्यत: कोई पहचान नहीं होती परंतु कोई भी आंदोलन सामूहिक पहचान के बिना संभव नहीं है। भीड़ न तो संगठित होती है और न ही इसमें स्थायित्व होता है। इसके विपरीत सामाजिक आंदोलन संगठित सामूहिक प्रयत्न है। इस प्रकार सामाजिक आंदोलन की पहली विशिष्टता इसका सामूहिक रूप है।

सांगठनिक संरचना तथा नेतृत्व सामाजिक आंदोलन का दूसरा प्रमुख पक्ष है। प्रत्येक आंदोलन में कार्यों के वितरण की आवश्यकता हुआ करती है। ये कार्य विभिन्न व्यक्तियों तथा सामूहिक इकाइयों को उनकी व्यक्तिगत क्षमताओं तथा वचनबद्धता के आधार पर सौंपे जाते हैं। इस तरह, आंदोलन के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक प्रकार के सांगठनिक ढांचे का स्वरूप खड़ा होता है। एक आकर्षक नेता जिसे समाजशास्त्रीय साहित्य में करिश्माई कहा जाता है, जब किसी आंदोलन का नेतृत्व करता है तब आंदोलन को जनता का समर्थन स्वत: मिल जाता है। भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में महात्मा गांधी के अनुयायियों की विशाल संख्या इसका उत्तम उदाहरण है। विकेंद्रित जनतांत्रिक नेतृत्व भी एक लोकप्रिय रणनीति हो सकती है। इस प्रकार संगठन की मज़बूती के लिए स्थानीय तथा क्षेत्रीय स्तरों पर इकाइयों और शाखाओं के व्यापक ढांचे का निर्माण किया जाता है। लोगों को एकत्रित करने, सूचनाओं के प्रसार तथा कार्यक्रमों के संपादन के लिए इन इकाइयों की आवश्यकता होती है। यद्यपि इन संगठनों को आंदोलन के लक्ष्यों तथा उद्देश्यों के आधार पर स्थापित किया जाता है किंतु यह लोगों की सामूहिक इच्छा को भी प्रकट करते हैं।

तीसरा, आंदोलन अपने को तब तक जीवित नहीं रख सकता जब तक यह अपनी अलग पहचान और विचारधारा को विकसित नहीं कर लेता। मांग और रणनीति संबंधी विचार, लक्ष्य की प्राथमिकता और परिवर्तन की दिशा, साध्य और साधन – ये सभी आंदोलन की विचारधारा के आधार हुआ करते हैं। किसी आंदोलन की विचारधारा उन धारणाओं के पुंज पर निर्भर करती है जो इसके उद्देश्यों तथा पद्धतियों की व्याख्या करे तथा इसे उचित सिद्ध कर सके। इस प्रकार वैचारिक पद्धति न केवल लोगों की अपेक्षाओं को व्यक्त करती है अपितु उनकी अपेक्षाओं के स्तर को भी परिभाषित करती है। इसके अतिरिक्त, विचारधारा आंदोलन के कार्यक्रमों को वैधता प्रदान करती है। इससे आंदोलन को जनता की स्वीकृति तथा मान्यता मिलती है। यह आंदोलन के लक्ष्यों से लोगों को जोड़ती है और सामूहिक प्रयासों को अधिक ठोस करने के लिए एक बिंदु पर एकत्र करने में सहायक भी होती है। किंतु हमें यहां इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को नज़रअंदाज़ नहीं करना चाहिए। यद्यपि प्रत्येक आंदोलन अपने विचारों तथा लक्ष्यों को स्वयं विकसित करता है

परंतु अक्सर ये किसी स्थापित विचारधारा से भी सशक्त रूप से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। उदाहरण के लिए, गांधीवाद तथा मार्क्सवाद ने भारत में कई सामाजिक तथा राजनीतिक आंदोलनों को प्रारंभ एवं प्रभावित किया है।

अंत में, परिवर्तन की अभिलाषा सामाजिक आंदोलन का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष है। प्रत्येक आंदोलन अपने लक्ष्यों तथा उद्देश्यों के अनुरूप परिवर्तन की ओर अभिमुख होता है। अतः सामाजिक आंदोलनों और सामाजिक परिवर्तन के बीच एक सुस्थापित संबंध है। किंतु सभी आंदोलन समान नहीं होते। एक ओर कुछ आंदोलन आंशिक परिवर्तन की चाह रखते हैं तो दूसरी ओर कुछ सामाजिक संरचना में आमूल-चूल परिवर्तन का प्रयास करते हैं। इस प्रकार कुछ आंदोलन परिवर्तन को बढ़ावा देने वाले होते हैं तो कुछ उसे रोकने वाले होते हैं। इस विषय में विस्तार से चर्चा फिर करेंगे।

सामाजिक आंदोलन का उदय

सामाजिक आंदोलन प्रकट कैसे होता है ? कौन से कारक सामाजिक आंदोलन को उभारते हैं ? किस स्थिति में एक आंदोलन जारी रहता है ? इन प्रश्नों के उत्तर ही सामाजिक आंदोलन की उत्पत्ति तथा स्रोत को स्पष्ट करेंगे।

आंदोलन के उद्भव से संबंधित तीन प्रचलित व्याख्याएं हैं- सापेक्षिक वंचन सिद्धांत, संरचनात्मक खिंचाव सिद्धांत और पुनर्जीवनीकरण सिद्धांत।

सापेक्षिक वंचन सिद्धांत : वंचन उस स्थिति को दर्शाता है जिसमें लोगों को उस वस्तु का अभाव रहता है जिसकी आवश्यकता होती है। सापेक्षिक वंचन की स्थिति लोगों के इस चिंतन पर आधारित होती है कि अन्य लोगों की तुलना में उनके पास क्या है। इस अर्थ में सापेक्षिक वंचन तब घटित होता है जब व्यक्ति अथवा समूह यह अनुभव करते हैं कि उन्हें उनकी क्षमता के अनुरूप जो प्राप्त होना चाहिए वह प्राप्त नहीं है। दूसरे शब्दों में, न्यायसंगत अपेक्षाओं तथा वास्तविक उपलब्धियों में अंतराल ही सापेक्षिक वंचन हैं। ये अंतर आर्थिक स्थिति, सामाजिक पदस्थिति और राजनीतिक शक्ति के कारण हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, एक शिक्षित बेरोज़गार युवा पर्याप्त शैक्षणिक योग्यता के बावजूद नौकरीशुदा व्यक्तियों की तुलना में अपने को वंचित महसूस कर सकता है। इस प्रकार सापेक्षिक वंचन वर्तमान परिस्थितियों के विरुद्ध असंतोष पैदा करता है और इसके फलस्वरूप एक आंदोलन का उदय होता है। समाजशास्त्रियों ने अधिकांश सामाजिक आंदोलनों का अध्ययन सापेक्षिक वंचन सिद्धांत की परिधि में किया है।

संरचनात्मक खिंचाव का सिद्धांत : नील स्मेलसर द्वारा दिए गए संरचनात्मक खिंचाव के सिद्धांत का तर्क यह है कि समाज में विरोधाभास ही द्वंद्व तथा खिंचाव, चिंता एवं अनिश्चितता उत्पन्न करता है। संरचनात्मक खिंचाव मानदंड, मूल्य तथा सुविधाओं के विभिन्न स्तरों पर होता है। यह खिंचाव आंदोलन जैसे सामूहिक व्यवहार को प्रेरणा देता है। यद्यपि सामाजिक आंदोलनों में समाजशास्त्रीय कारकों का समावेश करने वालों में स्मेलसर प्रथम पंक्तेय व्यक्ति थे परंतु उनकी आलोचना इस कारण हुई है कि उन्होंने मनोवैज्ञानिक प्रेरणा पर ज़रूरत से अधिक ज़ोर दिया है।

पुनर्जीवनीकरण का सिद्धांत: पुनर्जीवनीकरण का सिद्धांत प्रारंभ में ए. एफ. सी. वालास द्वारा दिया गया था। वालास का कहना है कि सामाजिक आंदोलन का जन्म सामाजिक सदस्यों द्वारा संगठित तथा चेतनशील प्रयासों के कारण होता है जिससे संस्कृति को अपने लिए अधिक संतोषजनक बनाया जा सके। आंदोलन की उत्पत्ति की यह व्याख्या उपर्युक्त दोनों व्याख्याओं से भिन्न है। सापेक्षिक वंचन

तथा खिंचाव का सिद्धांत दोनों नकारात्मक परिस्थितियों पर आधारित है। इन दोनों का तर्क है कि आंदोलनों की उत्पत्ति लोगों के वंचन तथा भेदभाव से संबंधित अनुभवों से होती है। किंतु पुनर्जीवनीकरण उपागम यह दिखाता है कि व्यवस्था को पुनर्जीवित करने के लिए सामाजिक आंदोलन एक सकारात्मक कार्यक्रम प्रस्तुत करता है। अत: इस सिद्धांत के अनुसार, न केवल वर्तमान स्थिति के विरुद्ध असंतोष एवं असहमति प्रकट करते हैं बल्कि व्यवस्था के पुनरुत्थान के लिए विकल्प भी प्रदान करते हैं।

सामाजिक आंदोलन के प्रकार

सामाजिक आंदोलनों को कई मानकों के आधार पर श्रेणीबद्ध किया गया है। अभीष्ट परिवर्तन के स्वरूप, सांगठनिक पद्धति तथा रणनीति, मांगों का स्वरूप, सहभागी समूह तथा समुदाय आदि कुछ प्रमुख कसौटियों का इस्तेमाल इस उद्देश्य से किया गया है।

आंदोलनों के वर्गीकरण से संबंधित भारतीय समाजशास्त्रियों में एम. एस. ए. राव का वर्गीकरण सबसे अधिक लोकप्रिय है। राव ने आंदोलनों के तीन मुख्य भेद किए हैं – सुधारवादी, रूपांतरकारी एवं क्रांतिकारी। सुधारवादी आंदोलन मूल्य व्यवस्था में केवल आंशिक परिवर्तन तथा उससे जुड़े संबंधों में गुणात्मक परिवर्तनों का इच्छुक होता है। दूसरी ओर, रूपांतरकारी आंदोलनों का लक्ष्य शक्ति के परंपरागत वितरण में मध्यम दर्जे के संरचनात्मक परिवर्तन का होता है। क्रांतिकारी आंदोलन समग्र सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्थाओं को आमूल-चूल परिवर्तनों की ओर ले जाता है।

पार्थ एन. मुखर्जी ने सामाजिक व्यवस्थाओं में आंदोलनों द्वारा अभीष्ट परिवर्तन के स्वरूप तथा सीमा के आधार पर एक अलग वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। परिवर्तन की कसौटी के आधार पर इन्होंने भी आंदोलनों को तीन भागों में बांटा है – सामाजिक आंदोलन, क्रांतिकारी आंदोलन तथा अद्र्ध आंदोलन। किसी व्यवस्था की संरचना में परिवर्तन अथवा बदलाव के वे प्रयास जो सामूहिक गतिशीलता से निर्देशित होते हैं उसे सामाजिक आंदोलन कहा जा सकता है। जब सामूहिक संगठन का लक्ष्य संपूर्ण समाज की प्रमुख संस्थागत व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन करना होता है तो उसे हम एक क्रांतिकारी आंदोलन कह सकते हैं। सामूहिक गतिशीलता जब व्यवस्था के अंदर ही परिवर्तन का लक्ष्य रखती है तब वह एक अद्र्ध आंदोलन है।

टी. के. उम्मन का वर्गीकरण आंदोलन की प्रक्रिया के क्रिस्टलीकरण, जीवनचक्र तथा सामाजिक आंदोलन के विभिन्न चरणों पर आधारित है। इनके अनुसार आंदोलनों को करिश्माई, विचारधारात्मक तथा सांगठनिक प्रकार में बांटा जा सकता है। आंदोलन के वर्गीकरण को उम्मन ने स्थान, भाषा, मुद्दे, सामाजिक श्रेणियों तथा मतों के आधार पर भी विभक्त किया है।

विभिन्न सामाजिक आंदोलनों में शामिल मुद्दों के स्वरूप को समझने के लिए इन वर्गीकरणों की काफी उपयोगिता है। फिर भी इन वर्गीकरणों पर गहराई से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि भारत में हाल में उदित कई नए सामाजिक आंदोलनों को इनके अंतर्गत समाविष्ट नहीं किया जा सकता। इस कठिनाई का कारण यह नहीं है कि समाजशास्त्री इन आंदोलनों से अवगत नहीं हैं, बल्कि परिस्थितियों की जटिलता इसका मुख्य कारण है। कुछ आंदोलनों में मुद्दे और इनमें भाग लेने वाले लोग इस प्रकार मेलजुल जाते हैं कि इन दोनों के बीच विश्लेषण की दृष्टि से फर्क करना मुश्किल हो जाता है। उदाहरण के लिए, जब देश के विभिन्न भागों में जनजातीय समुदाय राजनीतिक स्वायत्तता के लिए संघर्ष कर रहे हों तब उनके आंदोलन केवल राजनीतिक ही नहीं

रहते उनमें सांस्कृतिक तथा सामाजिक मुद्दे भी शामिल हो जाते हैं। सांस्कृतिक पहचान का सवाल स्वायत्तता की राजनीतिक मांग के साथ जुड़ा होता है। अत: यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि इस तरह के आंदोलनों को जनजातीय आंदोलनों के अंतर्गत रखा जाए अथवा राजनीतिक आंदोलनों में। दूसरे आंदोलनों में भी जहां भागीदार और मुद्दे साथ-साथ विद्यमान हैं यह कठिनाई सामने आती है।

यहां इस तथ्य का उल्लेख आवश्यक है कि 'सामाजिक आंदोलन' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में होता है जिसमें कई प्रकार के आंदोलनों को सम्मिलित किया जाता है। प्रथम दृष्टि में कुछ आंदोलन राजनीतिक या आर्थिक होते हैं, फिर भी उन्हें सामाजिक आंदोलनों के अंतर्गत ही रखा जाता है। उन्हें सामाजिक आंदोलन इसलिए कहा जाता है क्योंकि वे सामाजिक परिवर्तन के प्रमुख स्रोत होते हैं। अब हम भारत वर्ष के सामाजिक आंदोलनों के प्रमुख प्रकारों पर सामाजिक परिवर्तन में इनकी भूमिका के परिप्रेक्ष्य में विचार करेंगे।

सुधार आंदोलन

सुधार आंदोलन समाज के मूल ढांचे में परिवर्तन किए बिना वर्तमान स्थिति को सुधारने का प्रयास करता है। सुधार अक्सर लोगों के विश्वास, धर्मविधि, अनुष्ठान और जीवन-पद्धति से जुड़े होते हैं। भारत में सुधार आंदोलन के कई उदाहरण हैं। मध्यकालीन भारत का भक्ति आंदोलन सबसे सुपरिचित सुधार आंदोलन था। यह एक अखिल भारतीय आंदोलन था जिसमें मुख्य रूप से निम्न जाति तथा निर्धन वर्ग के लोग सम्मिलित थे। वे ईश्वर से प्रेम को धर्म का सबसे मुख्य तत्त्व मानते थे तथा धार्मिक अनुष्ठान और जातीय अवरोधों का विरोध करते थे। इस प्रकार आंदोलन का प्राथमिक उद्देश्य लोगों की विश्वदृष्टि तथा सामाजिक रिवाजों में सुधार लाना था। इसने सामाजिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन लाने की कभी कोशिश नहीं की, बल्कि मूल प्रणाली में आंशिक परिवर्तनों की वकालत की थी।

भारत में उन्नीसवीं शताब्दी में कई सुधार आंदोलनों ने सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था को पुनर्जीवन दिया। इसका प्रारंभ सन 1828 से बंगाल में 'ब्रह्म समाज' की स्थापना से हुआ जिसकी शाखाएं देश के कई भागों में थीं। बंगाल में 'ब्रह्म समाज' के अतिरिक्त महाराष्ट्र में 'प्रार्थना समाज' और पंजाब तथा उत्तर भारत में 'आर्य समाज' हिंदुओं के कुछ अन्य सुधार आंदोलन थे। कुछ अन्य संगठनों ने भी सुधार के कार्यों को अंगीकार किया जिनका नेतृत्व पिछड़ी जातियों तथा अन्य धार्मिक समूहों के सदस्यों के हाथ में था। उदाहरण स्वरूप, महाराष्ट्र में ज्योतिबा फुले का 'सत्य शोधक समाज' और केरल में 'श्री नारायण धर्म परिपालन' जैसी संस्थाएं पिछड़ी जातियों द्वारा प्रारंभ हुई थीं। इसी प्रकार मुसलमानों में सुधारवादी तत्त्वों का प्रतिनिधित्व अहमदिया और अलीगढ़ आंदोलन ने किया था। सिक्खों की अपनी 'सिंह सभा' और पारसियों की 'रेहनुमाई मजदेयासन सभा' इसके उदाहरण हैं। इन आंदोलनों तथा संगठनों की मुख्य चिंता नि:संदेह धार्मिक थी, परंतु इनमें सामाजिक तत्त्व का अभाव नहीं था। इन आंदोलनों ने जनसामान्य के जीवन में उल्लेखनीय परिवर्तन किए।

जनजातीय आंदोलन

हम यहां जनजातीय शब्द का प्रयोग उन लोगों के लिए कर रहे हैं जिन्हें देश में अनुसूचित जनजाति कहा जाता है। इन्हें आदिवासी अथवा मूलवासी भी कहा जाता है। जनजातीय समुदाय पूरे देश में फैले हैं परंतु उत्तर-पूर्वी क्षेत्र में इनकी जनसंख्या अधिक है। वस्तुत: अरुणाचल प्रदेश, मेघालय, मिज़ोरम तथा नागालैंड में ये बहुसंख्यक हैं। उसी प्रकार छत्तीसगढ़ और झारखंड राज्यों में भी

जनजातीय जनसंख्या काफी ज़्यादा है। कुल मिलाकर देश की जनसंख्या में जनजातियों की संख्या 8.08 प्रतिशत है। विभिन्न जनजातियों की अपनी अलग संस्कृति, भाषा, सामाजिक संरचना, मूल्य आदि हैं। इन समुदायों ने अपनी सांस्कृतिक और सामाजिक पहचान अक्षुण्ण रखी हुई है।

हमने इन समुदायों के बीच चलनेवाले आंदोलनों को जनजातीय आंदोलन की श्रेणी में रखा है। इन आंदोलनों की दिशा कई मुद्दों की ओर रही है। कुछ आंदोलन कृषि संबंधी मुद्दों पर चले हैं तो कुछ ने सांस्कृतिक तथा राजनीतिक सवालों को उठाया है। ऐतिहासिक दृष्टि से जनजातीय आंदोलनों की एक लंबी शृंखला रही है। इन आंदोलनों के संघर्षों तथा मुद्दों के स्वरूपों में काफी भिन्नता रही है। अतः कई बार इन्हें 'जनजातीय विद्रोह', 'जनजातीय बगावत' अथवा 'जनजातीय क्रांति' के रूप में भी संबोधित किया गया है।

वी. राघवैय्या ने अपनी पुस्तक 'ट्राइबल रिवोल्ट्स' में सन 1778 और 1971 के बीच 70 जनजातीय विद्रोहों की एक सूची प्रस्तुत की है। सन 1978 में भारतीय मानव वैज्ञानिक सर्वेक्षण ने जनजातीय आंदोलनों से संबंधित एक सर्वेक्षण में छत्तीस प्रचलित आंदोलनों की चर्चा की है।

उन्नीसवीं शताब्दी में केंद्रीय तथा पूर्वी भारत में जनजातीय इलाकों में कई विद्रोह हुए थे। इतिहासकारों ने सन 1831-33 के कोल और भूमिज विद्रोह, 1855-56 के संथाल विद्रोह, 1874-1901 के बीच बिरसा मुंडा आंदोलन जैसे कुछ प्रमुख जनजातीय आंदोलनों की विशेष चर्चा की है। इस काल में ब्रिटिश शासकों द्वारा नए राजस्व कानून लागू करने के कारण जनजातीय लोगों की नृजातीय पहचान तथा आर्थिक स्थिति को गंभीर चुनौतियों का सामना करना पड़ा था। बढ़ा हुआ लगान, सूदखोरों द्वारा सूद का भारी बोझ तथा सरकारी अधिकारियों के अत्याचार जैसे मुद्दों से जनजातीय लोगों को अपनी ही ज़मीन पर काश्तकार बनने को मजबूर होना पड़ा था। इन सभी कारकों ने जनजातीय विद्रोह की एक कतार खड़ी कर दी थी।

यहां यह तथ्य इंगित करना आवश्यक है कि जनजातीय समूहों के बीच तनाव और असंतोष स्वतंत्रता के बाद भी समाप्त नहीं हुआ। वस्तुतः पिछले कुछ दशकों में कई नए जनजातीय आंदोलन उभरे हैं। इन सभी आंदोलनों में अधिकांशतः भूमि हस्तांतरण, बेगार, न्यूनतम मज़दूरी तथा गैर-जनजातीय भू-स्वामियों द्वारा शोषण जैसे सवाल मुख्य रहे हैं। आज जनजातीय आंदोलनों की दिशा में काफी परिवर्तन आया है और इसने राजनीतिक चरित्र ग्रहण कर लिया है। इन आंदोलनों का वर्णन कई प्रकार से हुआ है। समाजशास्त्रीय साहित्य में इन्हें जनजातीय राजनीतिक आंदोलन, नृजातीय आंदोलन, उप-राष्ट्रीय आंदोलन, एकात्मता आंदोलन के रूप में अभिवर्णित किया गया है।

छोटा नागपुर का झारखंड आंदोलन जनजातीय लोगों द्वारा 'डिक्कू' (बाहरी) लोगों से रक्षा हेतु अलग राज्य की मांग से संबद्ध था। यह मांग अंततः मान ली गई और सन 2000 में झारखंड नाम से अलग राज्य बना दिया गया। देश के समस्त जनजातीय आंदोलनों में नागा आंदोलन प्राचीनतम है जिसमें भारत संघ से पृथक राज्य बनाने की मांग की गई है। इसने आरंभ से ही सैन्य-विद्रोह का रूप धारण कर लिया था तथा यह अभी भी जारी है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्वतंत्रता से पूर्व तथा इसके पश्चात जनजातीय आंदोलनों का न केवल प्रसार हुआ है, बल्कि उनमें मुद्दों, संगठन तथा नेतृत्व की दृष्टि से विविधता भी आई है। नृजातीय पहचान को समेकित करने की प्रवृत्ति मज़बूत हुई है। यह

प्रवृत्ति इन जनजातीय समुदायों की गतिशीलता प्रदर्शित करती है।

किसान आंदोलन

भारत में सामाजिक आंदोलनों के अध्ययन में किसान आंदोलनों का अध्ययन एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र के रूप में विकसित हुआ है। भारत मूलत: कृषि प्रधान देश है, अत: यह स्वाभाविक है कि समाजशास्त्रीय अन्वेषण में कृषि समस्याओं के अध्ययन ने एक केंद्रीय स्थान प्राप्त कर लिया है।

पिछले अध्याय में भूमि-सुधार की चर्चा करते समय हमने कृषि व्यवस्था की जटिलता को देखा था। भू-स्वामित्व का प्रतिमान, काश्तकारी, भूमि का उपयोग तथा उसका नियंत्रण, ये सभी मुद्दे खेतिहर संरचना का जटिल स्वरूप दिखाते हैं। खेतिहर संरचना की जटिलता खेतिहर वर्ग संरचना में भी प्रतिबिंबित होती है जो अरसे से ग्रामीण क्षेत्रों में अवस्थित रही है। भूमि व्यवस्था की विविधता और कृषि संबंधों ने खेतिहर वर्गों की एक व्यापक संरचना को उत्पन्न किया है। यह संरचना अलग-अलग क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न रही है। इस तरह डैनियल थॉरनर ने भू-स्वामित्व के स्वरूप और इनसे प्राप्त होने वाली आय के आधार पर भारत में तीन प्रमुख खेतिहर वर्गों को चिह्नित किया है – (क) मालिक, (ख) किसान और (ग) मज़दूर। मालिकों की श्रेणी में बड़े भूमिधारियों तथा धनी भू-स्वामियों को रखा गया है। किसान, मालिक से नीचे हैं, जिसमें मुख्यत: स्वयं खेती करने वाले भू-स्वामी आते हैं। वे छोटे भू-स्वामी तथा काश्तकार होते हैं। मज़दूर दूसरे के खेतों में काम करके अपनी जीविका चलाते हैं। इस श्रेणी के अंतर्गत निर्धन काश्तकार, बटाईदार और भूमिहीन श्रमिक को रखा गया है। खेतिहर वर्गों का यह वर्गीकरण मोटे तौर पर भारतीय वास्तविकता को प्रतिबिंबित करता है।

किंतु यहां इस तथ्य को स्वीकार करने की आवश्यकता है कि देश के विभिन्न भागों में खेतिहर अधिक्रम और जातीय अधिक्रम के बीच एक तादात्म्य है। धनी भू-स्वामी और सूदखोर मुख्य रूप से ऊंची जातियों के होते हैं। मध्यम और छोटे कृषक परंपरागत खेतिहर जातियों से आते हैं तथा भूमिहीन श्रमिक मुख्यतया निम्न जातियों के होते हैं। यह स्थिति मात्र एक प्रतिमान दर्शाती है। ग्रामीण क्षेत्रों की स्थिति का यह सटीक द्योतक नहीं है।

विभिन्न खेतिहर वर्गों द्वारा चलाए गए आंदोलनों की संरचनात्मक पृष्ठभूमि को समझने के उद्देश्य से ही हमने यहां खेतिहर वर्ग संरचना के स्वरूप का वर्णन किया है। डी. एन. धनाग्रे द्वारा भारत में किसान आंदोलनों के अध्ययन से हमें इन आंदोलनों के स्वरूप को जानने में काफ़ी मदद मिलती है। धनाग्रे के अनुसार, 'किसान आंदोलन' शब्द से तात्पर्य उन सभी प्रकार के सामूहिक प्रयासों से है जो किसानों के विभिन्न स्तरों द्वारा शोषकों के प्रति विरोध व्यक्त करते हुए व्यवस्था में आमूल परिवर्तन के लिए अथवा बिना व्यवस्था परिवर्तन के कुछ खास शिकायतों को दूर करने के लिए किए गए हों। इस प्रकार किसान आंदोलन के अंतर्गत सभी प्रकार के आंदोलनों का समावेश है, वे चाहे हिंसक हों अथवा अहिंसक, संगठित हों या छिट-पुट।

भारत में किसान आंदोलन का एक लंबा इतिहास है। उन्नीसवीं सदी में भारत को किसान वीरता पर सामग्री का खजाना माना जाता है। इस युग का सबसे उग्र किसान आंदोलन बंगाल का सन 1859-60 का नील विद्रोह था। केवल एक दशक बाद 1872-1873 में बंगाल के पबना और बोगरा में हिंसक झड़पें हुईं। ये संघर्ष ज़मींदारों के खिलाफ थे जो शोषण एवं अत्याचार के प्रतीक थे। भू-स्वामी तथा सूदखोर वर्गों ने अपनी स्थिति को न केवल ज़मींदारी क्षेत्रों में

बल्कि रैयतवाड़ी तथा महलवाड़ी क्षेत्रों में भी मज़बूत कर लिया था। छोटे भू-स्वामी, रैयत और बटाईदार सभी सूदखोरों के अत्याचार से पीड़ित थे। फलस्वरूप इन शक्तिशाली खेतिहर वर्गों के उत्पीड़न के विरुद्ध किसानों ने बगावत कर दी। इनमें एक आंदोलन पश्चिमी महाराष्ट्र रैयतवाड़ी इलाके में सन 1875 में हुआ जिसे दक्कन दंगा कहा जाता है। पूरी उन्नीसवीं सदी में दक्षिण भारत के मालावार क्षेत्र में मोपला विद्रोहों की एक शृंखला चलती रही। ये विद्रोह निर्धन मोपला किसानों के दीर्घकालिक खेतिहर असंतोष के प्रतीक थे।

यह एक रोचक तथ्य है कि बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में किसानों की शिकायतें भी भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का एक हिस्सा बन गईं। सन 1917 का चंपारण सत्याग्रह, 1918 का खेड़ा सत्याग्रह और सन 1928 का बारदोली सत्याग्रह ब्रिटिश विरोधी कुछ प्रमुख अहिंसक संघर्ष थे। महात्मा गांधी स्वयं इन सत्याग्रहों में शामिल थे, अत: इन्हें आम तौर से गांधीवादी किसान आंदोलन कहा जाता है। यद्यपि इनमें अधिकांश आंदोलनों ने अपेक्षाकृत छोटे खेतिहर मुद्दों को उठाया था, परंतु वे जनता के बीच राजनीतिक चेतना जगाने में सफल रहे। इस प्रकार इन आंदोलनों का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष यह था कि वे एक साथ राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन से जुड़े थे।

देश के अन्य भागों के किसान भी निष्क्रिय नहीं थे। वे भी अपनी शिकायतों को व्यक्त करने के लिए अत्यंत व्यग्र थे। सन 1920 और 1946 के बीच बिहार तथा बंगाल में कई किसान संगठनों और आंदोलनों का प्रादुर्भाव हुआ जिसने मध्यम और निर्धन किसानों की दुखदायी परिस्थिति के विरुद्ध आवाज़ उठाई।

स्वतंत्रता प्राप्ति के ठीक पहले बंगाल में सन 1946-47 का तिभागा संघर्ष निश्चित रूप से सभी किसान आंदोलनों में सर्वाधिक प्रभावकारी और व्यापक था। यह बरगदारों (शेयरक्रापर्स) का संघर्ष था जो अपनी उपज का एक-तिहाई हिस्सा अपने पास रखना चाहते थे। यह आंदोलन किसानों के राजनीतिकरण का फल था जो भारतीय साम्यवादी दल और किसान सभा के प्रयास से संभव हो सका। तेलंगाना का किसान संघर्ष जो भारतीय स्वतंत्रता प्राप्ति के समय उत्पन्न हुआ, निर्धन किसानों का एक अन्य महत्त्वपूर्ण संघर्ष था। यह सन 1946 में सामंती हैदराबादी राज्य के निज़ाम शासित क्षेत्र में विकसित हुआ और करीब पांच वर्षों तक चलकर अक्तूबर 1951 में समाप्त हुआ।

हमने यहां किसान आंदोलनों के स्वरूप तथा विशेषताओं की संक्षिप्त व्याख्या सामाजिक परिवर्तन में सामाजिक आंदोलनों की भूमिका से आपको परिचित कराने के लिए की है। यह सही है कि ये आंदोलन अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने में हमेशा सफल नहीं हुए हैं, परंतु यह निश्चित है कि इसने एक वातावरण तैयार किया जिसने स्वतंत्रता के उपरांत भूमि-सुधारों को लाने में मदद की।

दलित आंदोलन

आम तौर पर, हिंदू जाति व्यवस्था में 'अछूतों' को प्रशासनिक भाषा में अनुसूचित जाति कहा जाता है। इसी जातीय श्रेणी के लोगों को हरिजन भी कहा जाता है, जिसका अर्थ 'ईश्वर की संतान' होता है। इस शब्द का प्रयोग महात्मा गांधी ने सन 1933 में पहली बार किया था। किंतु हरिजन शब्द ने एक नकारात्मक अर्थ उपार्जित कर लिया है। इस जाति के लोग अपने को दलित कहलाना अधिक पसंद करते हैं। हमने यहां दलित आंदोलन शब्द का इस्तेमाल उन सभी आंदोलनों के लिए किया है जो दलितों के मुद्दों से संबंधित रहे हैं। अत: इसके अंतर्गत जाति विरोधी आंदोलन,

गैर-ब्राह्मण आंदोलन तथा छुआछूत के विरुद्ध गांधी जी द्वारा चलाए गए सामाजिक आंदोलनों का समावेश किया गया है। किसान तथा सुधार आंदोलनों की तरह दलित आंदोलन भी स्वतंत्रता के पहले चलाया गया था। इन आंदोलनों का विश्लेषण मोटे तौर पर दो श्रेणियों – गैर-ब्राह्मण आंदोलन तथा दलित आंदोलन में विभक्त करके किया गया है। जहां जाति विरोधी गैर-ब्राह्मण आंदोलन महाराष्ट्र और तमिलनाडु में मज़बूत था, वहीं दलित आंदोलन पूरे देश में फैला था। पंजाब में आदि-धर्म आंदोलन, उत्तर प्रदेश में सतनामी आंदोलन, केरल में नारायण गुरु का आंदोलन तथा तमिलनाडु का आदि द्रविड़ आंदोलन कुछ प्रमुख दलित आंदोलन रहे हैं। वृहत जाति विरोधी आंदोलनों का नेतृत्व ज्योतिबा फुले, बाबा साहेब अंबेडकर और इ. बी. रामासामी पेरियार जैसे प्रमुख नेताओं ने किया था। इन सबने शोषक व्यवस्था पर सभी स्तरों से प्रहार किया था। फिर भी दलित आंदोलन अनिवार्य रूप से अंबेडकर के नाम से जुड़ा है। वे इसके ऐतिहासिक नेता थे और इसकी विचारधारा के प्रणेता भी। शुरू में यह आंदोलन महाराष्ट्र तक ही सीमित था परंतु सन 1930 और 1940 के दौरान यह देश के विभिन्न भागों में फैल गया। यद्यपि डा. अंबेडकर द्वारा गठित संगठनों जैसे अनुसूचित जाति फेडरेशन और इसकी उत्तराधिकारी रिपब्लिकन पार्टी ने कभी भी अखिल भारतीय महत्ता प्राप्त नहीं की किंतु इनकी मान्यताएं देश के विभिन्न भागों के कई स्थानीय आंदोलनों को प्रभावित करने में सफल रहीं । इन आंदोलनों का फैलाव दलित समूहों में बढ़ती चेतना का द्योतक था। देश में राजनीतिकरण की बढ़ती प्रवृत्ति ने भी दलितों की अलग पहचान को पुष्ट किया है। वे अब राजनीतिक दृष्टि से ऊंची जातियों पर निर्भर नहीं हैं। फलस्वरूप वे भारतीय शक्ति संरचना को प्रभावित कर पाए हैं।

दलित आंदोलन की प्रवृत्ति का दूसरा मुख्य पक्ष दलित पैंथर आंदोलन के आविर्भाव में परिलक्षित होता है जिसका प्रारंभ सन 1970 के दशक में महाराष्ट्र के दलितों द्वारा हुआ। प्रारंभिक दिनों में यह महाराष्ट्र के नगरीय इलाकों में ही केंद्रित था, परंतु बाद में यह कई राज्यों में फैल गया। दलित पैंथर प्रधान संस्कृति की भर्त्सना करते हैं और साथ ही दलित वर्गों की वैकल्पिक सांस्कृतिक पहचान के स्वरूप को सुस्पष्ट करते हैं। इन लोगों ने अपने विचारों के प्रसार के लिए कविताएं, कहानियां, नाटक आदि प्रकाशित किए हैं। सामान्यतया इन्हें दलित साहित्य के रूप में जाना जाता है और इनका इस्तेमाल हिंदुओं की बौद्धिक परंपरा को चुनौती देने के लिए किया जाता है।

इन आंदोलनों का सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम दलित अस्मिता को समेकित करने में हुआ है। दलितों के संगठन के दबाव ने उन पर आरोपित सामाजिक असमर्थताओं को काफी हद तक दूर किया है। पिछले दशक की तुलना में उनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति में काफी सुधार हुआ है। वर्तमान आर्थिक व्यवस्था के बंधनों से मुक्ति के साथ दलितों का उत्थान आवश्यक रूप से जुड़ा हुआ है। आर्थिक व्यवस्था पर चूंकि अभी भी ऊंची जातियों का आधिपत्य है, अतः जाति एवं वर्ग व्यवस्था में दलितों का स्थान आज भी नीचे बना हुआ है।

महिला आंदोलन

भारत में महिला आंदोलन की उत्पत्ति की खोज कठिन है। आंदोलन के अधिकांश वृत्तांत इसका प्रारंभ उन्नीसवीं सदी से मानते हैं। किंतु हाल में सामाजिक इतिहासकारों ने इसके इतिहास का वर्णन औपनिवेशिक काल के पूर्व से किया है। उनका सुझाव है कि महिला आंदोलन की झलक सबसे पहले सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों के भक्ति और सूफी आंदोलनों

में मिलती है। परंतु हमारे लिए यह आवश्यक नहीं है कि हम यहां महिला आंदोलन के उद्भव काल से संबंधित विवाद में पड़ें। हमारे लिए मुख्य मुद्दा, इस तथ्य को समझना है कि महिलाओं की परिस्थिति का निर्धारण पुरुषों की सत्ता से ही होता रहा है। महिलाओं की दमित स्थिति बाल विवाह, बहुविवाह, विधवा विवाह पर रोक, सती तथा पर्दा प्रथा जैसे सामाजिक रिवाजों में प्रतिबिंबित होती है। ये रिवाज तब तक चलते रहे जब तक उन्नीसवीं सदी के समाज-सुधारकों ने इनको चुनौती नहीं दी। अतः अधिकांश विद्वानों का मानना है कि भारत में महिला आंदोलन का प्रारंभ सामाजिक सुधार आंदोलन के एक हिस्से के रूप में हुआ था। इस प्रकार महिलाओं की समस्याओं को प्रकाश में लाने की प्रक्रिया उन्नीसवीं सदी से शुरू हुई। किंतु बीसवीं सदी के प्रारंभ में महात्मा गांधी ने महिलाओं की निम्न स्थिति पर चिंता व्यक्त की। इनके ही प्रयासों से काफी संख्या में महिलाएं घरों से बाहर आईं और स्वतंत्रता आंदोलन में शामिल हुईं। महिलाओं की स्थिति को उन्नत करने के लिए उन्होंने एक क्रांतिकारी तरीके का इस्तेमाल किया। गांधी जी ने प्रभावकारी ढंग से तर्क दिया कि महिलाओं को सामाजिक और कानूनी असमर्थताओं से मुक्त करना चाहिए। अभिभावकत्व, उत्तराधिकार तथा विवाह जैसे मुद्दों पर उन्होंने ज़ोर दिया।

जिन महिलाओं ने राष्ट्रीय आंदोलन में हिस्सा लिया उन्होंने आत्मनिर्भरता, स्वदेशी और नारी शिक्षा के महत्त्व को समझा। महिलाओं में इस राजनीतिक चेतना ने सार्वजनिक क्षेत्र में उनके लिए उपलब्ध स्थान का दायरा बढ़ा दिया।

इसी समय कई महिला संगठनों का उदय हुआ जिससे सामाजिक-राजनीतिक कार्यों में महिलाओं की बढ़ती भूमिका के लिए मार्ग प्रशस्त हुआ। इनमें प्रमुख संगठन थे – 'अखिल भारतीय महिला समिति' (ऑल इंडिया विमेन्स एसोसिएशन) तथा 'भारतीय महिला समिति' (द इंडियन विमेन्स एसोसिएशन)। इन संगठनों की शाखाएं देश के विभिन्न भागों में थीं। इनके कार्य मुख्यतः महिला शिक्षा, स्वास्थ्य तथा सफाई में सुधार, महिलाओं के लिए मताधिकार तथा महिला श्रमिकों के लिए मातृत्व-लाभ जैसे विषयों पर केंद्रित थे। इस प्रकार ये संगठन लिंग समानता और महिला अधिकारों पर विचार-विमर्श प्रारंभ करने में सफल रहे।

सभी प्रकार की लिंग असमानताओं को दूर करने के आश्वासन के साथ ही महिला आंदोलन का राष्ट्रीय चरण स्वतंत्रता के पश्चात समाप्त हुआ। बाद में सामाजिक पुनर्निर्माण के जो कदम उठाए गए उसने भी इस लक्ष्य की पुष्टि की। स्वभावतः, करीब दो दशकों सन 1970 तक महिला आंदोलनों की गति धीमी रही। इस बीच महिलाओं ने काफी संख्या में देश के भिन्न भागों में स्थानीय स्तर पर चल रहे कई संघर्षों में भाग लिया। महाराष्ट्र के शाहदा आंदोलन, गुजरात तथा महाराष्ट्र में मूल्य-वृद्धि विरोध आंदोलन, जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व वाले बिहार आंदोलन जैसे आंदोलनों में महिलाओं की भूमिका एवं भागीदारी आज भी हमें स्मरण है। संघर्ष तथा विकास का दोहरा लक्ष्य 'सेवा' (एस.ई.डब्लू. ए. यानी सेल्फ इंप्लाइड विमेन्स एसोसिएशन) जैसे संगठनों ने हाथ में लिया। सभी प्रकार के अन्यायों के खिलाफ इनकी लड़ाई चली।

भारत में महिला आंदोलनों के अध्ययन में जुटे समाजशास्त्रियों ने यह दिखलाया है कि स्वायत्त महिला आंदोलन की शुरुआत सन 1970 के बाद हुई। यह महिलाओं की स्थिति से संबंधित रिपोर्ट प्रकाशित होने के साथ ही सामने आया। इस रिपोर्ट ने स्त्री-पुरुष अनुपात, जीवन प्रत्याशा, साक्षरता तथा जीवन में मिलने वाले अवसरों में निहित लिंग समानताओं जैसे सवालों को प्रकट किया। सरकार ने महिलाओं के

लिए विशेष कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के लिए कदम उठाए। दूसरी ओर, लिंग और पुरुषवादी संस्कृति पर आधारित श्रम विभाजन के विरुद्ध संघर्ष के लिए स्थानीय तथा क्षेत्रीय स्तरों पर कई स्वायत्त महिला समूहों का गठन हुआ। इन बुनियादी सवालों के अतिरिक्त, स्वायत्त महिला संगठनों ने महिला हिंसा, अत्याचार, दहेज-हत्या, बलात्कार और घरेलू हिंसा आदि कई तात्कालिक मुद्दों को भी अपने हाथ में लिया। इन्होंने पीड़ित महिलाओं की ओर से विरोध जुलूस एवं सहायता सेवाओं को विकसित किया, जैसे – पीड़ित महिलाओं की तरफ से कानूनी लड़ाई लड़ना।

यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि भारत में महिला आंदोलनों में नारीवाद के विचार पर एक गंभीर बहस चल पड़ी है। नारीवाद राजनीतिक विचारधारा का एक जटिल स्वरूप है जिसका व्यवहार महिला समानता के संघर्ष के लिए महिला आंदोलनों द्वारा होता है। नारीवाद की परिभाषा कई प्रकार से परस्पर संबंधित ढांचों के रूप में भी की जा सकती है जिसका प्रयोग लिंग असमानता की सामाजिक वास्तविकता के निर्माण और पुष्टिकरण के अवलोकन तथा विश्लेषण के लिए किया जाता है। नारीवाद के इस परिप्रेक्ष्य में कुछ सक्रिय कार्यकर्त्ताओं ने भारतीय वास्तविकता के लिए नारीवाद की पश्चिमी अवधारणा की उपयुक्तता पर ही प्रश्न खड़ा कर दिया है। इनका तर्क है कि भारत में पुरुषों के वर्चस्व का स्वरूप पश्चिमी समाज से भिन्न है। अतएव, पुरुषों के विरुद्ध मांग तथा प्रतिरोध भी अलग है। इस दृष्टि से सक्रिय महिला एवं 'मानुषी' की संपादक मधु किश्वर ने अपनी परंपराओं की ओर दृष्टिपात करने की आवश्यकता पर जोर दिया है। इनका विचार है कि सांस्कृतिक परंपराओं के अंतर्गत हमें विध्वंसकारी तत्त्वों को शक्तिदायक तत्त्वों से अलग करना चाहिए और फिर इन शक्तियों का उपयोग परंपरा को बदलने में शुरु करना चाहिए। ''हमारी सांस्कृतिक परंपराओं में प्रतिक्रियावादी तथा नारी विरोधी विचारों को समाप्त करने की पर्याप्त क्षमता है, यदि हम इन शक्तियों की पहचान करें और इनका रचनात्मक इस्तेमाल करें।'' अत: भारतीय संदर्भ में नारीवाद केवल सैद्धांतिक बहस का ही सवाल नहीं है, बल्कि सामाजिक परिवर्तन का एक उपागम भी है। निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि भारत में महिला आंदोलनों ने ऐतिहासिक भूमिका अदा की है और महिलाओं के मुद्दों को राष्ट्रीय कार्यसूची में ला दिया है।

शब्दावली

असहमति - यह उन विचारों एवं गतिविधियों के संदर्भ में है जो कि उस समय समाज में प्रचलित विचारों एवं गतिविधियों से भिन्न होते हैं।

विरोध - विरोध स्पष्ट रूप से व्यक्त की गई असहमति है। यह अधिक स्थायी विरोध एवं संघर्ष को दर्शाता है।

सामाजिक आंदोलन - यह एक स्थिति में किया गया सामूहिक प्रयास है जो कि सामाजिक परिवर्तन के किसी पक्ष पर केंद्रित होता है।

संबद्ध वंचना (रिलेटिव डिप्राइवेशन) - यह स्थिति तब उत्पन्न होती है जब व्यक्ति या समूह यह महसूस करते हैं कि वे जिसके लायक हैं उसे प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं।

अभ्यास प्रश्न

1. असहमति का क्या अर्थ है ?
2. विरोध शब्द से आप क्या समझते हैं ?
3. सामाजिक आंदोलन क्या है ? सामाजिक आंदोलन की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
4. सामाजिक आंदोलन की उत्पत्ति और स्रोतों पर चर्चा कीजिए।
5. आप सामाजिक आंदोलनों को किस तरह वर्गीकृत करेंगे?
6. सुधार आंदोलन क्या है ?
7. भारत में भक्ति आंदोलन के क्या उद्देश्य थे ?
8. जनजातीय संस्कृति एवं उनके सामाजिक अस्तित्व को बनाए रखने में सामाजिक आंदोलनों की भूमिका पर प्रकाश डालिए।
9. भारत में कृषक आंदोलन की प्रकृति एवं विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
10. सामाजिक परिवर्तन एवं जागरूकता लाने में महिलाओं की भूमिका की चर्चा कीजिए ।
11. दलित आंदोलन के परिणामों पर प्रकाश डालिए।

संदर्भ-ग्रंथ

- धनाग्रे, डी. एन., *पीजेंट मूवमेंट्स इन इंडिया 1920-1950*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1983
- राव, एम. एस. ए. (सं.), *सोशल मूवमेंट्स इन इंडिया*, मनोहर पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 1984
- कर्ण, एम. एन. (सं.), *सोशल मूवमेंट्स इन नार्थ-ईस्ट इंडिया*, इंडस पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1998
- शाह, घनश्याम, **सोशल मूवमेंट्स इन इंडिया : ए रिव्यू ऑफ लिटरेचर**, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 1990
- कर्ण, एम. एन. (सं.), *पीजेंट एंड पीजेंट प्रोटेस्ट्स इन इंडिया*, इंटलैक्चुअल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1989
- मलिक, एस. सी., *डिसेंट प्रोटेस्ट एंड रिफार्म इन इंडियन सिविलाइजेशन*, इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडी, शिमला, 1977
- ओम्वेट गैल, *दलित्स एंड द डेमोक्रेटिक रिवोल्यूशन : डा. अंबेडकर एंड द दलित मूवमेंट इन कोलोनियल इंडिया*, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 1994

अध्याय 10

सामाजिक विचलन

प्रत्येक समाज में सामाजिक मानदंडों को तोड़ने वाले लोग मिलते हैं। कुछ वैवाहिक एवं पारिवारिक मानदंडों की उपेक्षा करते हैं तो कुछ दुकान में चोरी करने वाले क्रियाकलापों, नशीली दवाओं के सेवन तथा मद्यसेवन से जुड़े रहते हैं। ये सभी कार्य विचलन के उदाहरण हैं। इस अर्थ में विचलन एक ऐसा व्यवहार है जो मानदंडों का अतिक्रमण करता है।

कोई भी समाज मानदंडों से पूर्ण अनुरूपता का दावा नहीं कर सकता। समाज मानदंडों की अनुरूपता तथा विचलन के बीच एक संतुलन बनाए रखता है। आपराधिक व्यवहार से सविनय अवज्ञा तक सभी प्रकार के व्यवहारों को विचलन माना जाता है, क्योंकि लोग इसे इसी रूप में समझते हैं और व्याख्या करते हैं। मानदंड और विचलन सांस्कृतिक मूल्यों से जुड़े होते हैं, अत: विचलन को समझना सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसका परिणाम न केवल व्यक्तियों को बल्कि संपूर्ण समाज को झेलना पड़ता है। इस अध्याय में हम सामाजिक विचलन के दो महत्त्वपूर्ण पक्षों – अपराध तथा हिंसा पर विचार करेंगे।

अपराध की व्याख्या

अपराध की परिभाषा सामाजिक तथा कानूनी दोनों अर्थों में की गई है। आपराधिक व्यवहार के सभी अध्ययनों ने अपराध के कानूनी पक्षों को उजागर किया है, अत: अपराध की कानूनी परिभाषा अधिक लोकप्रिय है। एक मान्य कानूनी परिभाषा के अनुसार, "अपराध बिना बचाव अथवा औचित्य के फौजदारी कानून का उल्लंघन करने के लिए जानबूझकर किया गया कार्य है।" अत: अपराध जानबूझकर किया गया कार्य है और व्यक्ति अपने इस कार्य का परिणाम जानता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति बिना किसी विशेष उद्देश्य के भी अर्थात बिना जान लेने के उद्देश्य से दूसरे व्यक्ति को गोली मारता है तब वह अपराध करता है क्योंकि वह जानता है कि इससे उसकी जान जा सकती है अथवा वह घायल हो सकता है। अपराध किसी स्थान विशेष के फौजदारी कानून का उल्लंघन है। इसके परिणामस्वरूप, जब कभी ऐसी घटना घटती है, राज्य (पुलिस) गलती करने वाले के विरुद्ध कार्रवाई करता है। इस परिभाषा का दूसरा मूल तत्त्व यह है कि अपराध बिना किसी औचित्य के किया जाता है। अतएव, यदि यह साबित हो जाता है कि यह कार्यवाही आत्मरक्षा के लिए की गई है, तब इससे क्षति अथवा नुकसान होते हुए भी इसे अपराध नहीं माना जाता है। इस प्रकार अपराध की कानूनी परिभाषा उन परिस्थितियों पर बल देती है जिनमें अपराध किया गया हो।

दूसरी ओर, अपराध की सामाजिक व्याख्या इसके कानूनी पक्षों से अलग तत्त्वों पर ज़ोर देती है।

इस अर्थ में, अपराध ऐसा व्यवहार अथवा कार्य है जो किसी समुदाय के सामाजिक नियमों का अतिक्रमण करता है। इस प्रकार के विचलन को असामाजिक कार्य माना जाता है। चूंकि अपराध सामाजिक शांति को खतरे में डालता है और व्यक्ति तथा संपत्ति पर चोट करता है, अत: यह समाज एवं व्यक्ति दोनों के लिए अकार्य है। अतएव समाजशास्त्री न केवल चोरी, डकैती और हत्या को अपराध मानते हैं, बल्कि कला विध्वंस, आत्महत्या, नशीली दवाओं के व्यसन आदि को भी इस श्रेणी में रखते हैं।

यह स्मरण रखना आवश्यक है कि अपराध की सामाजिक परिभाषा अपराध के स्रोत के लिए समाज के स्वरूप की ओर नज़र डालती है न कि व्यक्ति (अपराधी) के जैविकीय अथवा मनोवैज्ञानिक स्वरूप की ओर। अत: रॉबर्ट के. मर्टन जैसे समाजशास्त्री का तर्क है कि विचलन संस्कृति और समाज की संरचना का प्रतिफल है। यह 'व्याधिकीय व्यक्तित्व' का परिणाम नहीं है। विभिन्न समाजों के मानदंड तथा मूल्य अलग-अलग होते हैं, अत: इनकी अनुरूपता की प्रकृति में भी भिन्नता होती है। अपराध का संबंध किसी समाज में सामाजिक शक्ति की मात्रा और सामाजिक नियंत्रण की सीमा से भी होता है। यह सामाजिक शक्ति के बिखराव को प्रतिबिंबित करता है, क्योंकि यह स्थिति दर्शाती है कि व्यक्ति सार्वजनिक दबाव से मुक्त है।

स्पष्टत: अपराध की कानूनी और सामाजिक परिभाषाएं अपराध के भिन्न-भिन्न पक्षों पर बल देती हैं। कानूनी आयाम मूलत: कानूनी संहिता पर आधारित है, जबकि सामाजिक आयाम समाज के मानदंडों को प्रकट करता है। पहला संहिताबद्ध होता है और सामान्यत: लिपिबद्ध भी, जबकि दूसरा प्राय: अमूर्त्त तथा प्रखर होता है। अधिकांशत: ये दोनों परस्पर मेल नहीं खाते। उदाहरण के लिए, भारत में दहेज विरोधी कानून के अंतर्गत दहेज अब एक अपराध है। किंतु इसका फैलाव पूरे देश में आज भी है। अत: दहेज एक अपराध है, किंतु इसे सामाजिक स्वीकृति प्राप्त है, क्योंकि लोग बेझिझक इस व्यवहार में शामिल हैं। इस तरह, यह दिखाना कठिन हो जाता है कि मानदंड का कौन-सा अतिक्रमण अपराध है और कौन-सा नहीं। फिर भी, अपराध की कानूनी परिभाषा संक्षिप्त एवं सुस्पष्ट है, अत: सभी व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए इसका इस्तेमाल होता है। अपराध संबंधी आंकड़ों को एकत्र करने में तथा शासकीय कार्यों में इनका प्रयोग होता है।

आपराधिक व्यवहार की व्याख्या

अन्य कई सामाजिक घटनाओं की तरह आपराधिक व्यवहार की व्याख्या भी विभिन्न विद्वानों द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में की गई है। अतएव, अपराधपूर्ण व्यवहार की कोई एक व्याख्या नहीं है। हम यहां अपराध की चार व्याख्याओं पर विचार करेंगे – जैविकीय, मनोवैज्ञानिक, आर्थिक तथा समाजशास्त्रीय।

अपराध की जैविकीय व्याख्या को 'जन्मजात अपराधी' सिद्धांत भी कहा जाता है। यह मुख्य रूप से आपराधिक व्यवहार के शारीरिक और वंशानुगत पक्षों पर आधारित है। इस विश्लेषण के अनुसार अपराध का मुख्य कारण 'जैविकीय हीनता' होता है। इसे मानने वालों का विश्वास है कि जैविकीय हीनता वंशानुगत होती है जो ढालू ललाट, पतले होंठ, शरीर पर बाल, छोटे कान आदि शारीरिक विशेषताओं में प्रतिबिंबित होती है। अत: विशेष प्रकार की जैविकीय हीनता विशेष प्रकृति के अपराध को जन्म देती है। इस अर्थ में अपराधियों का एक अलग समूह होता है और वे जन्मजात होते हैं, समाज द्वारा बनाए नहीं जाते। अपराध की इस व्याख्या की न केवल आलोचना हुई है बल्कि इसे करीब-करीब त्याग दिया गया है।

जैविकीय सिद्धांत की अवधारणा का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है और यह एकतरफा है। अपराध जैविकीय नहीं बल्कि एक सामाजिक तथ्य है। अत: इस समस्या के सीखने तथा सामाजिक अनुभवों एवं पहलुओं को ध्यान में रखे बगैर जैविकीय कारक की चर्चा अर्थहीन है।

अपराध के कारणों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या मुख्यत: मानसिक कमज़ोरी और अपराध के आपसी रिश्तों से संबंधित है। कैदियों पर किए गए अपने अध्ययन के आधार पर चार्ल्स गोरिंग ने यह निष्कर्ष निकाला कि सामान्य जनसंख्या की तुलना में कैदी जनसंख्या में 'मानसिक कमजोरी' कहीं ज़्यादा थी। अत: इन्होंने निष्कर्ष दिया कि मानसिक कमज़ोरी अपराध का एक महत्त्वपूर्ण कारण थी। एक अन्य अध्ययन में बुद्धि-परीक्षण के बाद कहा गया कि अपराध का एक महत्त्वपूर्ण कारण निम्न स्तर की मानसिकता या मंद बुद्धि होना था। मोटे तौर पर, मनोवैज्ञानिक तत्त्व जैसे वर्चस्व स्थापन या अधीनता, आशावाद या निराशावाद व्यवहार के तरीकों को तय करते हैं जो छोटे बच्चों में सुस्थापित होते हैं। यह संवेगात्मक अशांति पैदा कर अपचार और अपराध की ओर प्रेरित करते हैं। इस प्रकार, अपराध की मनोवैज्ञानिक व्याख्या आपराधिक व्यवहार के कारणों को मनुष्य के मनोविज्ञान में ढूंढ़ने का प्रयास करती है।

आपराधिक व्यवहार के जैविकीय और मनोवैज्ञानिक कारणों के विपरीत कुछ विद्वानों ने अपराध को समाज की आर्थिक संरचना से जोड़ा है। वे आपराधिक व्यवहार के आर्थिक प्रभावों पर अपना ध्यान केंद्रित करते हैं। यह उपागम दर्शाता है कि अपराधी आर्थिक वातावरण, जिसमें वह रहता है, की उपज है। अपराध और गरीबी के अंत:संबंधों को दिखाते हुए यह निष्कर्ष निकाला गया है कि धनवानों की तुलना में गरीबों के बीच अपराध की दर अधिक है। एक अंग्रेज़ अपराध वैज्ञानिक सिरिल बर्ट ने अपने अध्ययन में पाया कि निश्चित समय में 19 प्रतिशत बाल अपराधी अत्यंत गरीब परिवारों के थे, जबकि 37 प्रतिशत गरीब परिवारों के। मार्क्सवादी उपागम में भी आपराधिक की आर्थिक व्याख्या मिलती है। यद्यपि मार्क्स ने आपराधिक व्यवहार के सिद्धांत की कोई अलग चर्चा नहीं की है, किंतु उनका विचार था कि आर्थिक व्यवस्था सामाजिक संबंधों के विभिन्न आयामों का निर्धारण करती है। समाज में विद्यमान आर्थिक असमानता ही आपराधिक व्यवहार के लिए वातावरण तैयार करती है। संपत्ति तथा शक्ति का असमान वितरण वर्ग भेद उत्पन्न करता है जो शोषित एवं बेरोज़गार व्यक्तियों को अपराधी बनाता है। फिर भी, गरीबी तथा अपराध के बीच प्रत्यक्ष संबंध दिखाना कठिन है। अपराधी केवल गरीबों में ही नहीं पाए जाते। उच्च वर्ग में भी अपराधियों की संख्या अच्छी-खासी है। हमें गरीब परिवारों में अधिक अपराधी मिलते हैं क्योंकि इनका पता लगाना सहज है। दूसरी ओर, धनवान और उच्च वर्ग के अपराधी अपने प्रभाव और शक्ति के कारण गिरफ्तारी और दोषसिद्धि से बच निकलते हैं।

अंत में हम अपराध की समाजशास्त्रीय व्याख्या पर नज़र डालें। समाजशास्त्रियों का तर्क है कि अपराध सीखा हुआ व्यवहार है और सामाजिक वातावरण पर निर्भर करता है। किंतु अपराध के कारण के इस मूल तत्त्व को समाजशास्त्रियों द्वारा अलग-अलग ढंग से देखा गया है।

सामाजिक विघटन का सिद्धांत अपराध की व्याख्या व्याधिकीय रहन-सहन की स्थिति तथा सौहार्द्रपूर्ण संबंधों के टूटने के आधार पर करता है। यद्यपि यह व्याख्या अपराध के अध्ययन से संबंधित नहीं थी तथापि नगरीय जीवन की समस्याओं के अध्ययनों के दौरान यह प्रकट हुई। इस उपागम के अनुसार,

अपराधियों और पथभ्रष्टों को एक छोटी संख्या के रूप में देखा जा सकता है। यह छोटा समूह होता है जो समाज में हाशिए पर अवस्थित होता है। मुख्य तौर पर यह त्रुटिपूर्ण समाजीकरण का परिणाम है।

संरचनात्मक उपागम अपराध तथा सामाजिक संरचना के बीच के रिश्ते को दिखाता है। दुर्खाइम का विचार था कि किसी समाज में विद्यमान एकीकरण की मात्रा और संशक्ति से विचलन के कारणों का संबंध है। इस अर्थ में, विचलित व्यवहार समाज में रहने का एक सामान्य तरीका है। दुर्खाइम ने आत्महत्या के अध्ययन के दौरान नियमहीनता की अवधारणा को विकसित किया और मर्यादाहीनता की स्थिति की व्याख्या के लिए इसका इस्तेमाल किया। उनका दावा था कि नियमहीनता व्यक्तियों के व्यवहार को नियंत्रित तथा व्यवस्थित करने में समाज की असफलता का परिणाम है। आगे चलकर, नियमहीनता की अवधारणा को आर. के. मर्टन ने आत्महत्या से आगे बढ़ाया और सभी प्रकार के विचलन की व्याख्या के लिए इसका उपयोग किया। नियमहीनता सांस्कृतिक लक्ष्यों और संस्थागत साधनों की अंत:क्रिया पर निर्भर है। दूसरे शब्दों में, जब सांस्कृतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए संस्थागत साधन पर्याप्त नहीं होते तब यह संस्कृति द्वारा निर्धारित लक्ष्यों के प्रति लोगों की वचनबद्धता को कमज़ोर कर देते हैं। यह नियमहीनता की स्थिति को जन्म देता है। इस प्रकार मर्टन बताते हैं कि सामाजिक संरचना कुछ व्यक्तियों पर अनुपालन के विपरीत अपालन में लिप्त होने के लिए दबाव डालती है।

हिंसा

हिंसा के स्वरूप एवं इसके पैमाने के अध्ययन ने आज समाज विज्ञान में एक केंद्रीय स्थान प्राप्त कर लिया है। इतिहासकारों तथा राजनीतिविज्ञानियों ने राजनीतिक और सैनिक हिंसा पर काफ़ी लिखा है। मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्ति के मनोविज्ञान की परिधि में इसके मूल स्वरूप पर विचार किया है। हाल में समाजशास्त्रियों ने सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में हिंसक व्यवहार की प्रकृति का विश्लेषण किया है। बहरहाल, इस खंड में हिंसा के तीन पक्षों की ही चर्चा की गई है, यथा – हिंसा का अर्थ, परिवर्तन की रणनीति के रूप में हिंसा तथा समकालीन भारत में हिंसात्मक गतिविधियों का स्वरूप।

हिंसा का अर्थ

हिंसा के अभिप्राय को समझने के लिए पहले इस तथ्य पर विचार करना आवश्यक है कि क्या हिंसक व्यवहार का कारण 'आक्रामकता' मनुष्यों में सहजात है अथवा इसे समाज से प्राप्त किया जाता है। कुछ विद्वानों की राय है कि आक्रामकता पशु व्यवहार में निहित होती है। इस परीक्षण के आधार पर वे कहते हैं कि आक्रामकता और हिंसा मनुष्यों में भी निहित है। परंतु हम इस विचार से सहमत नहीं हैं। मनुष्यों को पशुओं के स्तर पर नहीं रखा जा सकता है। अत: मानवीय हिंसक व्यवहार को पशु व्यवहार की दृष्टि से नहीं समझा जा सकता।

मनुष्य मूलत: हिंसक नहीं होते हैं। वे समाजीकरण के दौरान हिंसक प्रवृत्ति को अर्जित करते हैं। एक बार हिंसक प्रवृत्ति अर्जित कर लेने के बाद आगे चलकर यह सामाजिक एवं पर्यावरणीय कारकों द्वारा तीव्र होती है। यह विचार हमें हिंसक व्यवहार को सही ढंग से समझने के लिए सामाजिक संदर्भ प्रदान करता है।

हिंसा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष क्रिया है जिसका प्रयोग व्यक्तियों अथवा संपत्ति को रोकने, हानि पहुंचाने अथवा नष्ट करने के लिए किया जाता है। इस अर्थ में, प्रत्यक्ष शारीरिक आक्रमण के द्वारा लोगों को नुकसान पहुंचाना अथवा घायल करना ही हिंसा नहीं

है, बल्कि व्यक्तियों अथवा संपत्ति को अप्रत्यक्ष रूप से नुकसान पहुंचाना भी हिंसा हो सकती है। धरने के द्वारा श्रमिकों को कारखाने में प्रवेश के लिए रोकना हिंसक नहीं दिखता है क्योंकि कारखाने की संपत्ति को नुकसान पहुंचाने के लिए बल प्रयोग नहीं किया जा रहा है, परंतु इससे कारखाने के उत्पादन को घाटा पहुंच सकता है। यह अप्रत्यक्ष नुकसान कहलाता है।

इस प्रकार हिंसा आक्रामकता से भिन्न है। हठधर्मिता और आक्रामक व्यवहार के संपूर्ण प्रतिबिंब को आक्रामकता कहते हैं जबकि हिंसा आक्रामकता का उग्र रूप है और संवेगात्मक क्रोध अथवा विद्वेष से जुड़ा है। क्रोध के कारण शारीरिक प्रहार तक किया जाता है जब लोग यह महसूस करते हैं कि वे बाहरी कारकों के हस्तक्षेप के कारण अपने लक्ष्यों की प्राप्ति नहीं कर सकते हैं। उदाहरण स्वरूप जब भूमिहीन लोग यह अनुभव करने लगते हैं कि वर्तमान खेतिहर संरचना ही परिवर्तन में बाधक है तब वे व्यवस्था परिवर्तन के लिए हिंसा का सहारा लेते हैं। हम इस बात की ओर ध्यान दिलाना चाह रहे हैं कि हिंसा का कारण समाज व्यवस्था में ही निहित होता है।

लेविस कोजर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'द फंकशंस ऑफ सोशल कॉनफ्लिक्ट' में बताया है कि अपनी उपस्थिति तथा आकृति में हिंसा सामाजिक रूप से संरचित हुआ करती है। वे हिंसा के कुछ सकारात्मक सामाजिक प्रकार्यों पर प्रकाश डालते हैं। जब विभिन्न समूहों की मांगों की पूर्ति में स्थापित सत्ता असफल होती है, जब हिंसा संघर्ष के माध्यम से समाधान प्रस्तुत कर सामाजिक संरचना की मदद करती है। सी. राइट मिल्स का भी कहना है कि राजनीति शक्ति के लिए संघर्ष है और अपने निर्णायक रूप में शक्ति हिंसा है। टैड रॉबर्ट गर ने अपनी बहुचर्चित पुस्तक *वाई मैन रेबेल* में बताया है कि राजनीतिक हिंसा स्वसामंजस्य संघर्ष की स्थिति का एक भाग है जो सामाजिक साम्यता में मदद करता है।

यह स्पष्ट है कि समाजशास्त्री हिंसा शब्द का प्रयोग हिंसक व्यक्तित्व के मनोवैज्ञानिक अर्थ में नहीं करते। इन्होंने इस शब्द के साथ सामाजिक अभिप्राय को जोड़ दिया है। इस समस्या का पक्ष और भी सुस्पष्ट होगा जब हम हिंसा के विभिन्न प्रकारों की चर्चा करेंगे।

हिंसा के प्रकार

व्यक्तिगत हिंसा और संरचनात्मक हिंसा के बीच एक वृहत विभेद किया जाता है। व्यक्तिगत विद्वेष, संपत्ति के झगड़े आदि कारणों से हत्या, प्रहार और दुर्व्यवहार व्यक्तिगत हिंसा के उदाहरण हैं। दूसरी ओर, संरचनात्मक हिंसा की जड़ें शोषक तथा असमानतावादी सामाजिक व्यवस्था में निहित होती है। भारत में जाति व्यवस्था और संयुक्त राज्य अमेरिका में विद्यमान प्रजातीय संबंध शोषक समाज व्यवस्था के उपयुक्त उदाहरण हैं।

राजनीतिक हिंसा मुख्य रूप से तीन प्रकार की होती है – खलबली (टरमोइल), षड्यंत्र और आंतरिक युद्ध। तुलनात्मक रूप से खलबली स्वतः स्फूर्त और असंगठित राजनीतिक हिंसा है। इसके अंतर्गत हिंसक राजनीतिक हड़ताल, दंगा, राजनीतिक झड़प, शोरगुल आदि आते हैं। षड्यंत्र एक अत्यंत संगठित राजनीतिक हिंसा है जिसमें सीमित लोग ही सम्मिलित होते हैं। राजनीतिक हत्या, छोटे स्तर का आतंकवाद, छापामार युद्ध और सत्ता पलट इसके कुछ उदाहरण हैं। आंतरिक युद्ध एक अत्यंत संगठित राजनीतिक हिंसा है जिसमें जनता व्यापक रूप से भागीदार हुआ करती है। यह स्थापित शासन प्रणाली को उखाड़ फेंकने का प्रयास भी कर सकती है। बड़े पैमाने पर हिंसा, गृहयुद्ध और आतंकवाद आंतरिक युद्ध के कुछ अन्य आयाम हैं।

हाल ही में, दो प्रकार की हिंसा की बड़े पैमाने पर चर्चा हुई है, यथा – सांप्रदायिक हिंसा और आतंकवाद। सांप्रदायिक हिंसा किसी समुदाय विशेष के विभिन्न धार्मिक, जातीय, भाषाई इत्यादि समूहों के बीच हो सकती है। किंतु अधिकतर सांप्रदायिक हिंसा को विभिन्न धार्मिक समूहों के बीच संघर्ष के रूप में देखा जाता है। उदाहरण के लिए, अपने ही देश में हिंदुओं और मुसलमानों के बीच के दुर्भाग्यपूर्ण संघर्ष को सांप्रदायिक दंगा कहा जाता है। इस प्रकार के दंगे न केवल कानून व्यवस्था के लिए समस्या पैदा करते हैं, बल्कि लोगों के बीच संबंधों में तनाव भी उत्पन्न करते हैं। हमारे जैसे बहुधर्मी देश के लिए यह एक गंभीर सामाजिक समस्या है।

आतंकवाद एक विशेष प्रकार की हिंसा है जो तेज़ी से फैल रही है। आपने विमानों के अपहरण, धार्मिक स्थलों पर बमबारी, लोगों को बंधक बनाने जैसी घटनाओं के विषय में अवश्य सुना होगा। अमेरिका में विश्व व्यापार केंद्र पर बमबारी और हमारे देश में संसद भवन पर आक्रमण आतंकवाद के ताज़ातरीन उदाहरण हैं। आतंकवाद एक छद्मवेशी हिंसा है जो अंधी हिंसा पर आधारित होती है। यह हिंसा उस राष्ट्र अथवा समूह की मानसिक स्थिति में बदलाव लाने के लिए की जाती है जिस पर आक्रमण किया जाता है। आतंकवादियों का मुख्य उद्देश्य उन लोगों एवं समूहों के दिमाग में भय उत्पन्न करना होता है जो कि उनके निशाने होते हैं। निर्दोष लोगों पर अंधाधुंध प्रहार कई कारणों से किया जाता है। आतंकवादी इरादों की पूर्ति के लिए किसी देश को कुछ विशेष कार्यों के लिए मजबूर करना इसका एक कारण है। उदाहरण के लिए, वर्ष 1999 में आतंकवादियों के एक गुट ने काठमांडू (नेपाल) से इंडियन एयरलाइंस के एक विमान का अपहरण कर यात्रियों को कई दिनों तक कंधार (अफ़गानिस्तान) में बंधक बनाए रखा। इनकी मांग थी कि भारतीय जेलों में बंद तीन आतंकवादियों को भारत रिहा करे। आतंकवादी हिंसा का दूसरा उद्देश्य लोगों का ध्यान आतंकवादी लक्ष्यों की ओर आकृष्ट करना होता है। संचार के माध्यमों के द्वारा अपने संदेश को फैलाने के लिए आतंकवादी कुछ नाटकीय हिंसक कार्यों को अंजाम देते हैं। इससे आतंकवादियों का प्रचार होता है और जनता के मन में भय फैलाने में मदद मिलती है। विश्व के कई हिस्सों में आतंकवादी क्रियाकलाप काफी संगठित हैं और सरकारों द्वारा इन्हें आर्थिक सहयोग भी मिलता है।

हिंसा की समस्या

सामाजिक परिवर्तन संस्थागत माध्यमों से परिचालित हो सकते हैं। ये संस्थागत कहलाते हैं क्योंकि ये कानूनी, न्यायसंगत तथा समाज द्वारा अनुमोदित हैं। ये मार्ग समाज स्वीकृत हैं क्योंकि इन माध्यमों से प्रेरित परिवर्तन सामाजिक मूल्यों से मेल खाते हैं और अबाध गति से चलते रहते हैं। फिर भी समाजशास्त्रियों ने परिवर्तन की रणनीति में हिंसा और संघर्ष की भूमिका की चर्चा की है।

सामाजिक परिवर्तन और हिंसक रणनीति के आपसी रिश्ते में दो मूल मुद्दे शामिल हैं। पहला, तनाव और हिंसा सामाजिक परिवर्तन का स्वाभाविक परिणाम हो सकता है। दूसरा, परिवर्तन और बदलाव के औज़ार के रूप में संघर्ष और हिंसा का प्रयोग हो सकता है। दुनिया में इन दोनों सवालों पर निरंतर बहस चलती रही है। प्रस्तुत चर्चा केवल परिवर्तन के उन प्रयासों तक ही सीमित रखी गई है जिसमें सामाजिक परिवर्तन के लिए हिंसक साधनों का जानबूझ कर इस्तेमाल होता है।

सदा से मनुष्य की मौलिक समस्या एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करना रहा है जो स्वतंत्रता को सुनिश्चित कर सके। प्रत्येक मानवीय

समूह का इच्छित लक्ष्य भूख, दुख, शोषण और अन्याय से मुक्ति का रहा है। परंतु महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास के बावजूद संस्थागत संरचनाएं इस लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ नहीं हुई हैं। विश्व की सामाजिक व्यवस्था में संपत्ति, प्रस्थिति तथा शक्ति की असमानता जारी है। इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था शोषण को कायम रखती है, असमानता को बढ़ाती है और भेदभाव को पोषण प्रदान करती है। इन परिस्थितियों में समाज का उपेक्षित वर्ग इन असमानताओं के विरुद्ध स्थापित स्थिति में बदलाव के लिए हिंसक प्रतिवाद कर सकता है।

इस प्रकार की हिंसक प्रतिक्रियाओं के दो रूप होते हैं। कुछ समूहों और वर्गो की प्रतिक्रिया छिट-पुट और अस्थायी होती हैं, जबकि कुछ अविछिन्न हिंसक क्रियाकलापों में लीन रहते हैं। पहले समूह की हिंसक प्रतिक्रिया की प्रकृति अस्थायी होती है क्योंकि उनके लिए हिंसा और संघर्ष किसी विचारधारा पर आधारित नहीं होता है। यह वर्तमान शोषक व्यवस्था के खिलाफ क्रोध की अभिव्यक्ति मात्र होती है। सामान्यत: ऐसे समूह हिंसक संघर्ष को अहिंसक कार्यो के साथ मिला कर चलते हैं। उदाहरण के लिए, कारखानों के श्रमिकों का संघर्ष यदाकदा हिंसक हो सकता है, किंतु ऐसी हिंसा अधिक समय तक नहीं चलती है।

दूसरी ओर, कुछ समूह क्रांतिकारी विचारधारा के प्रभाव में रहते हैं। ऐसे समूह वर्ग संघर्ष की रणनीति में विश्वास करते हैं और सामाजिक परिवर्तन के लिए हिंसा को एक माध्यम के रूप में स्वीकार करते हैं। इस दृष्टि से मार्क्सवादियों का उदाहरण अत्यंत उपयुक्त है। मार्क्सवादी विचार संघर्ष को क्रांति का हथियार मानता है और संघर्ष के मार्ग को इतिहास के प्रेरक बल के रूप में प्रतिबिंबित करता है। फलत:, इस विचारधारा से प्रभावित अधिकांश संघर्ष हिंसक रूप ग्रहण कर लेते हैं। वस्तुत: समकालीन मार्क्सवादी क्रांतिकारी बगावत और विद्रोह के लिए छापामार युद्ध की भूमिका पर ज़ोर देते हैं।

हम यह बताने का प्रयास कर रहे हैं कि हिंसा भी परिवर्तन की एक रणनीति है। स्वत: प्रवर्तित हिंसा एक सामान्य माध्यम है जिसके द्वारा वंचित समूह अपनी शिकायतों की तरफ ध्यान आकृष्ट करवाते हैं। वे परिवर्तन को बढ़ावा देने के लिए स्वीकृत साधनों के बाहर चले जाते हैं। अत: हिंसक रणनीति वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था पर चोट और स्थापित विधियों को नज़रअंदाज करती है। इसलिए इसे गैर-कानूनी अथवा असंवैधानिक साधन कहा जाता है। भारत में नक्सलवादी आंदोलन इसका उपयुक्त उदाहरण है। सभी हिंसक क्रियाओं का उद्देश्य इच्छित लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होता। कई लोग लूटपाट के द्वारा रुपया-पैसा, माल-असबाब एकत्र करने के लिए भी इन कार्यो में जुटे रहते हैं। वे इन अवसरों का इस्तेमाल उन दुकानदारों और व्यापारियों के खिलाफ अपने क्रोध को व्यक्त करने के लिए करते हैं जिन्होंने पहले इनकी मदद न की हो।

सामान्यत:. हिंसक रणनीतियों को सामाजिक परिवर्तन का उचित साधन नहीं माना जाता है। हिंसा का प्रयोग समाज की शांति भंग करता है और वास्तव में योजनाबद्ध सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में बाधा डालता है। साथ ही, हिंसा सच्चे प्रजातांत्रिक और मानवतावादी समाज के अविर्भाव को सीमित करती है। यह व्यक्तित्व पर गलत प्रभाव डालती है। अत: सतत अहिंसक संघर्ष ही एक समाज में परिवर्तन की सही रणनीति है।

भारत में अपराध

अब तक यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि अपराध एक गंभीर सामाजिक समस्या है और यह व्याधिकीय

सामाजिक अवस्था में प्रकट होता है। अपराध सभी समाजों में होते हैं, परंतु इनके स्वरूप और मात्रा में भिन्नता हो सकती है। इस अर्थ में हमारा अपना देश भी अपवाद नहीं है। यद्यपि भारत में अपराध के सरकारी आंकड़ों की कुछ स्पष्ट सीमाएं हैं, फिर भी हम इन तथ्यों द्वारा इससे संबंधित प्रवृत्तियों की पहचान कर सकते हैं।

अपराध के आंकड़े बताते हैं कि भारत में सभी अपराधों की कुल संख्या में प्रत्येक वर्ष भारतीय दंड संहिता के अंतर्गत औसतन 16 लाख से अधिक संज्ञेय अपराध हैं। चोरी, सेंधमारी, डकैती, हत्या, अपहरण, ठगी आदि इसके अंतर्गत शामिल हैं। इसके विपरीत, स्थानीय और विशिष्ट कानूनों में आने वाले अपराधों की संख्या करीब 35 लाख है। इसके अंतर्गत जुआ, दहेज, नशाबंदी, नशीली दवाओं का दुरुपयोग, वेश्यावृत्ति आदि से संबंधित अपराध आते हैं। यहां एक रोचक तथ्य की चर्चा करना उपयुक्त होगा कि कई विकसित देशों की तुलना में भारत में अपराध की दर अधिक नहीं है। हमारे देश में प्रत्येक एक लाख की जनसंख्या में अपराध दर केवल 614.79 है जबकि कनाडा में यह 10,955, ब्रिटेन में 10,404 और संयुक्त राज्य अमेरिका में यह 5,898 है।

संज्ञेय अपराधों की स्थिति बताती है कि कुल अपराधों में 14.4 प्रतिशत हत्या, बलात्कार, अपहरण इत्यादि जैसे हिंसक अपराध हैं, 26 प्रतिशत संपत्ति से संबंधित, 3.1 प्रतिशत ठगी, विश्वासघात जैसे सफेदपोश अपराध और शेष 56.5 प्रतिशत अन्य अपराध शामिल हैं। सन 1994 के 'भारत में अपराध' के आंकड़ों के अनुसार, 18 से 30 वर्ष के आयु वर्गों में अपराध दर सबसे अधिक (51 प्रतिशत) है, 16 वर्ष से कम आयु वर्ग में यह 1 प्रतिशत (0.2 प्रतिशत) से कम, 16-18 आयु वर्ग में 1 प्रतिशत (1.2 प्रतिशत), 30-50 आयु वर्ग में 41 प्रतिशत तथा 50 से अधिक आयु वर्ग में 7 प्रतिशत हैं।

भारत में अपराध की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए हमने यहां उपयुक्त तथ्यों का वर्णन किया है। इन तथ्यों को प्रस्तुत करने का हमारा उद्देश्य यह इंगित करना है कि हमारे देश में किस प्रकार प्रतिदिन सामाजिक मानदंडों के अनुपालन की मनोवृत्ति का दिनों-दिन ह्रास हो रहा है। भारत में विभिन्न प्रकार के अपराधों के विश्लेषण से समस्या के इस आयाम को और भी स्पष्ट किया गया है।

बाल अपराध

समाजशास्त्रीय विश्लेषण में अपराधी को उस समूह का सदस्य माना जाता है जिनका समूह के मानदंडों से विचलन हो गया हो। इस संदर्भ में, बच्चों द्वारा किए गए अपराधों को वयस्कों से भिन्न माना जाता है। बच्चों के दुराचार के सवाल में दो पहलुओं – उम्र तथा आचरण पर अधिक ध्यान दिया जाता है। परिपक्वता की दृष्टि से उम्र महत्त्वपूर्ण आधार होती है। एक खास उम्र से कम के बच्चों को अपरिपक्व और फलत: गैर-ज़िम्मेदार माना जाता है। दूसरी ओर, आचरण को अपराध के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष के रूप में लिया जाता है, क्योंकि यदि ठीक ढंग से इसे रोका नहीं गया तो छोटे दोषी, वयस्क अपराधी बन सकते हैं।

सामान्यत: एक बाल अपराधी को उम्र की दृष्टि से नाबालिग अपराधी माना जाता है। वह बालक और बालिका जिसकी उम्र 7 तथा 16 या 18 वर्षों के बीच है इस श्रेणी में रखे जाते हैं। भारत में बाल अपराधियों की अधिकतम आयु बालकों के लिए 16 वर्ष और बालिकाओं के लिए 18 वर्ष है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि कुल बाल अपराधों में केवल 2 प्रतिशत घटनाएं ही पुलिस तथा न्यायालयों तक पहुंच पाती हैं। नेशनल क्राइम रेकार्ड्स ब्यूरो के आंकड़े बताते हैं कि पिछले दशक तक भारत में

करीब 50 हज़ार अपराध भारतीय दंड संहिता के अंतर्गत और करीब 85 हज़ार स्थानीय तथा विशिष्ट कानूनों के अंतर्गत हुए थे। बच्चों द्वारा किए गए अपराधों में सबसे अधिक अपराध धन से संबंधित रहे हैं, जैसे – चोरी, सेंधमारी, डकैती आदि। उसी तरह, बालकों में बालिकाओं की अपेक्षा अपराध दर अधिक हैं, अर्थात बालिकाएं, बालकों की तुलना में कम अपराध करती हैं।

बाल अपराधों की संख्या में वृद्धि के कई कारण हैं। मोटे तौर पर इन्हें दो भागों में बांटा जा सकता है – व्यक्तिगत कारण और परिस्थितिजन्य कारण। विद्वेष, असुरक्षा का भाव, भय, संवेगात्मक द्वंद्व, अवज्ञा आदि व्यक्तिगत कारणों में शामिल हैं। परिस्थितिजन्य कारणों में पारिवारिक वातावरण, खेल के साथियों का प्रभाव, विद्यालयीय वातावरण, फिल्मों का प्रभाव इत्यादि प्रमुख हैं। वैसे व्यक्तिगत कारण निस्संदेह महत्त्वपूर्ण हैं, किंतु युवाओं को अपराधी प्रवृत्ति की ओर ले जाने में बदलते सामाजिक परिवेश का भी बड़ा हाथ है। इस तथ्य को विस्तार से प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं है कि किस तरह अधिकांश फिल्मों और कहानी की पुस्तकों में धूम्रपान, मद्यपान, हिंसा और क्रूरता जैसे हानिकारक और अनैतिक कार्यों का चित्रण बच्चों के सुकुमार मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव छोड़ता है। वे फिल्मों द्वारा हिंसा और अपराध के नए-नए तरीके सीखते हैं। युवकों द्वारा इन स्रोतों से सीखे गए तरीकों को अपराध में इस्तेमाल करने की खबरों से हमारे इस विचार की पुष्टि होती है।

सफेदपोश अपराध या व्यावसायिक अपराध

अपराधशास्त्री ई. एच. सदरलैंड ने सर्वप्रथम सफेदपोश अपराध की पहचान की और इसकी प्रकृति की जानकारी दी। सदरलैंड के अनुसार, "व्यावसायिक कार्यों के दौरान उच्च सामाजिक-आर्थिक वर्ग के व्यक्ति द्वारा फौजदारी कानून का उल्लंघन सफेदपोश अपराध है।" वे आगे बताते हैं कि यहां उच्च सामाजिक-आर्थिक वर्ग सिर्फ संपत्ति के अर्थ में परिभाषित नहीं है बल्कि इसके अंदर समाज में इनकी प्रतिष्ठा और सम्मान भी शामिल है। परंतु आज सफेदपोश शब्द लोकप्रिय नहीं है और इसके स्थान पर साहित्य में 'व्यावसायिक अपराध' शब्द का अधिक प्रयोग होने लगा है। इस तरह व्यापारियों, व्यावसायियों तथा सरकारी कर्मियों द्वारा अपने कार्यों के दौरान कानून के उल्लंघन को सफेदपोश अथवा व्यावसायिक अपराध कहा जाता है। सफेदपोश अपराध के क्षेत्र को विस्तृत कर अब इसके अंतर्गत विज्ञापन के अयथार्थ विवरण, श्रमिक कानूनों का उल्लंघन, वित्तीय चालबाज़ी तथा कॉपीराइट कानूनों के उल्लंघन जैसे अपराधों को भी शामिल कर दिया गया है।

आज भारत में कई प्रकार के सफेदपोश अपराध हो रहे हैं। यह अपराध न केवल उच्च पदस्थिति वाले समूहों द्वारा किए जाते हैं बल्कि मध्य एवं निम्न वर्ग के लोग भी इसमें लिप्त हैं। अधिकांश अपराधों में आर्थिक तत्त्व विद्यमान होते हैं और वित्तीय लेन-देन का समावेश रहता है। अतः कई बार इसे 'आर्थिक अपराध' भी कहा जाता है।

भारत में सामान्य आर्थिक अपराधों में आय छिपाना, कर नहीं देना, गलत बिक्री अथवा आयकर रिटर्न के द्वारा आर्थिक लाभ लेना आदि शामिल हैं। हवाला लेन-देन, सार्वजनिक कोष का गबन, खाद्य सामग्री और दवाइयों में मिलावट, बैंक और बीमा धोखेबाज़ी, विदेशी मुद्रा कानून का उल्लंघन, जमाखोरी और कालाबाज़ारी सफेदपोश अपराध के कुछ अन्य उदाहरण हैं।

यहां यह महत्त्वपूर्ण बात है कि भारत में पिछले कुछ दशकों में सफेदपोश अपराधों के स्वरूप और संख्या में काफी बदलाव आया है। निश्चित रूप से

यह देश में आर्थिक क्रियाकलापों के प्रसार और परिवर्तन का परिणाम है। सामाजिक हितों की तुलना में लोग व्यक्तिगत लाभ और मुनाफे से अधिक प्रेरित हैं। समस्या का स्वरूप और भी जटिल हो जाता है जब हम देखते हैं कि सामान्य अपराधी पुलिस जैसी दबाव डालने वाली एजेंसियों से डरते हैं जबकि सफेदपोश अपराधी ऐसा अनुभव नहीं करते। फलस्वरूप, आर्थिक अपराधों में वृद्धि के बावजूद दंडित होने वाले लोगों की संख्या आज भी बढ़ी नहीं है।

संगठित अपराध

अब तक हमने व्यक्यिों द्वारा किए गए अपराधों की ही चर्चा की है, किंतु वैसे अपराध भी हैं जो सामूहिक प्रयासों पर निर्भर होते हैं। ऐसा अपराध जिसके निष्पादन में व्यक्तियों का समूह लगा हो, संगठित अपराध कहलाता है। यह एक प्रकार का सामूहिक कार्य है जिसे अत्यंत संगठित रूप से किया जाता है। अपराधशास्त्रियों ने तीन प्रकार के संगठित अपराधों की व्याख्या की है। वे हैं गिरोह अपराध, धोखाधड़ी, संघ अपराध। गिरोह अपराध के अंतर्गत धन ऐंठना, डकैती और अपहरण सम्मिलित हैं। ऐसे अपराध निष्ठुर और कठोर अपराधी गिरोह द्वारा किए जाते हैं। लोगों से ठग कर पैसे लेना, मिलावटी सामग्रियों को बेचना, नकली दवाओं का व्यापार आदि धोखाधड़ी के उदाहरण हैं। धोखाधड़ी करने वाले अपराधी गैर-कानूनी व्यवसायों को सुरक्षा प्रदान करने का काम भी करते हैं। बड़े शहरों में यह आम बात है।. संघ अपराध संगठित अपराधी गिरोह द्वारा किया जाता है जिसे अक्सर माफिया कहा जाता है। मुंबई, कोलकाता, दिल्ली जैसे महानगरों में काफी प्रभावशाली माफिया गिरोह सक्रिय हैं।

भारत में संगठित अपराध का मूल्यांकन कठिन नहीं है। इन अपराधों की संख्या काफी बढ़ी है और काफी बड़े क्षेत्रों में फैली हुई है। सट्टेबाजी, नशीली दवाओं का अवैध व्यापार, मोटर वाहनों की चोरी, गैर-कानूनी हथियारों को आतंकवादियों तक पहुंचाना – कुछ सामान्य उदाहरण हैं।

शब्दावली

नियमहीनता (एनोमी): यह शब्द एमिल दुर्खाइम द्वारा प्रयुक्त किया गया है। इसका अर्थ है नियमहीनता की स्थिति।

बाल अपराध : ऐसा अपराध जो 16 वर्ष से छोटे लड़के और 18 वर्ष से छोटी लड़की द्वारा किया जाता है।

संरचनात्मक हिंसा : वह हिंसा जो कि सामाजिक संरचना की शांति और अस्तित्व को भंग करती है।

व्यक्तिगत हिंसा : किसी व्यक्ति के विरुद्ध की गई हिंसा।

अभ्यास प्रश्न

1. अपराध से आप क्या समझते हैं ?
2. अपराध की चार मुख्य व्याख्याएं क्या हैं ?

3. दुर्खाइम ने वैयक्तिक विचलन . विश्लेषण किस प्रकार । ..
4. हिंसा एवं आक्रामकता में अंतर स्थापित कीजिए।
5. हिंसा के विभिन्न प्रकारों की व्याख्या कीजिए।
6. हिंसा किस प्रकार सामाजिक परिवर्तन लाती है?

संदर्भ-ग्रंथ

- आहूजा, राम, ***क्रिमिनोलॉजी***, रावत पब्लिकेशंस, जयपुर, 2000
- चंद्रा, सुशील, ***सोशियोलॉजी ऑफ डीविएंस इन इंडिया***, एलाइड पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 1967
- सेठ, एच., ***जुवेनाइल डेलिंक्विंसी इन इंडियन सैटिंग***, पापुलर प्रकाशन, मुंबई, 1960
- क्लीनर्ड, मार्शल बी., ***सोशियोलॉजी ऑफ डीविएंट बिहेवियर***, होल्ट, रिनहार्ट एंड विंस्टन, इंक न्यूयार्क, 1957
- विकमैन, पीटर, फिलिप वाइटन और लेवी रॉबर्ट, ***क्रिमिनोलॉजी : पर्सपैक्टिव्स ऑन क्राइम एंड क्रिमिनैलिटी***, लेक्सिंगटन मास, हीथ, 1980